

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
मार्च २०१८



तपस्या

विषय-सूची (पूर्णयोग की तपस्या)

प्रार्थना/सम्पादकीय	३
चतुर्विध तपस्या : सौन्दर्य की तपस्या, शक्ति की तपस्या ज्ञान की तपस्या, प्रेम की तपस्या	५-३७
चार मुक्तियाँ	३७
पूर्णयोग तथा दिव्य जीवन	४२
परिशिष्ट : निर्वाण तथा उच्चतर क्रमविकास?	श्रीअरविन्द ४४
‘पुरोधः’ : एक प्रार्थना	श्रीअरविन्द ४५
दैनन्दिनी	४६
श्रीअरविन्द का पूर्णयोग	नारायण प्रसाद ‘बिन्दु’ ५०
परमात्मा और किसान	‘शिशु मन्दिर’ से साभार ५२
जकड़ लिया हमेशा के लिए	वन्दना ५४

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मातैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,

पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www.aurosociety.org



प्रार्थना

हे प्रभो, हम भक्ति और उल्लास के साथ तेरा अभिवादन करते हैं और खुशी के साथ, नित नूतन होने वाली भेंट की तरह अपने-आपको तुझे अर्पण करते हैं ताकि पृथ्वी पर और इस विश्व के सभी स्थलों पर तेरी इच्छा कार्यान्वित हो।

जब हम तेरी ओर मुड़ते हैं तो विचार मौन होता है पर हृदय उल्लसित होता है; क्योंकि तू सभी चीज़ों में देदीप्यमान है और बालू का छोटे-से-छोटा कण भी पूजा का अवसर हो सकता है।

हे प्रभो, हम अपार प्रेम और अनिर्वचनीय आनन्द के साथ तेरे आगे नमन करते हैं, हम तेरे साथ एक होते हैं।

ओ ! यह परम आनन्द सभी को प्रदान कर।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १, पृ. ११२-१३

सम्पादकीय : सामान्यतया तपस्या का अर्थ लगाया जाता है कि व्यक्ति विभिन्न प्रकार के बाहरी दुःख-कष्टों से गुज़रे; जैसे दीर्घकाल तक उपवास रखे, नींद पर विजय पाये, इत्यादि। लेकिन यह इसका ग़लत अर्थ लगाना है। वास्तव में इस शब्द का गभीर आन्तरिक अर्थ यह है कि व्यक्ति आत्म-शुद्धीकरण के एकाग्र प्रयास के द्वारा अपनी आन्तरिक अभीप्सा की अग्नि को निरन्तर, अधिकाधिक प्रज्वलित रखे। तत्त्वतः तब वह अपने विचारों, भावों तथा कर्मों से कामना-वासना और अहंकार-भावना को उस आन्तरिक अग्नि में स्वाहा कर उनसे पिण्ड छुड़ा सकता है, यही है तपस्या; यह नहीं कि बाहरी त्याग और दमन का प्रयोग कर के वह स्वयं को शुष्क वैरागी बना दे।

इस अंक में इस विषय को हम श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के भव्य दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करेंगे।



योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. ६

चतुर्विध तपस्या

तपस्या आत्म-पीड़न नहीं है :

अतिमानसिक उपलब्धि की ओर ले जाने वाली सर्वांगीण शिक्षा की खोज करने के लिए चार तपस्याओं और साथ ही चार प्रकार की मुक्ति की ज़रूरत है।

साधारणतः, लोग तपस्या और आत्म-दमन को एक ही समझने की भूल करते हैं। जब तपस्या की बात की जाती है तो लोग उस तपस्वी की साधना की बात सोचते हैं जो भौतिक, प्राणिक और मानसिक जीवन को आध्यात्मिक बनाने के कठिन काम से बचने की कोशिश करता है और इसलिए यह घोषणा करता है कि यह रूपान्तर के योग्य है ही नहीं, और उसे निर्दय होकर व्यर्थ भार, बन्धन, आध्यात्मिक प्रगति में बेड़ी मान कर फेंक देता है। बहरहाल, यह माना जाता है कि यह ऐसी चीज़ है जिसे ठीक करना असम्भव है, एक भार है जिसे न्यूनाधिक रूप में खुशी-खुशी तब तक ढोते रहना है जब तक प्रकृति या भगवान् की कृपा मृत्यु के द्वारा तुम्हें उससे छुटकारा न दिला दे। धरती का जीवन अच्छे-से-अच्छे रूप में प्रगति के लिए क्षेत्र है और मनुष्य को उससे अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की कोशिश करनी चाहिए और जल्दी-से-जल्दी पूर्णता की उस स्थिति तक पहुँच जाना चाहिए जो इस परीक्षा को अनावश्यक बना कर इसका अन्त कर दे।

हमारे लिए समस्या बिल्कुल और ही है। हमारे लिए पार्थिव जीवन केवल एक रास्ता या साधन नहीं है; उसे रूपान्तर के द्वारा एक लक्ष्य, एक उपलब्धि बनना चाहिए। अतः, जब हम तपस्या की बात करते हैं तो शरीर के लिए निन्दा की या अपने-आपको उससे अलग कर लेने की दृष्टि नहीं होती। हम आत्म-संयम और आत्म-प्रभुत्व की आवश्यकता के कारण तपस्या की बात छेड़ते हैं। क्योंकि एक ऐसी तपस्या है जो तपस्वी की सभी तपस्याओं से बढ़ कर, उनसे अधिक पूर्ण और अधिक कठिन है—वह है रूपान्तर के लिए आवश्यक चतुर्विध तपस्या जो व्यक्ति को अतिमानस सत्य की अभिव्यक्ति के लिए तैयार करती है। इस तरह, उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि शरीर की पूर्णता के लिए शारीरिक प्रशिक्षण जिस तपस्या की माँग करता है उसकी बराबरी करने वाली तपस्याएँ कम ही होंगी। लेकिन

उसकी बात हम उचित समय पर करेंगे।

तपस्वी की क्रियाएँ तथा आध्यात्मिक अनुशासन

अपेक्षित चार प्रकार की तपस्याओं का वर्णन करने से पहले मुझे एक प्रश्न स्पष्ट कर देना चाहिए जो अधिकतर लोगों के मन में बहुत सारी ग़लतफ़हमियों और उलझनों का कारण है। यह है तपस्वी की इन क्रियाओं के बारे में जिन्हें लोग आध्यात्मिक साधना मानते हैं। इन क्रियाओं में शरीर के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है ताकि, जैसा कहा जाता है उसके अनुसार, आत्मा को उससे मुक्त किया जा सके। वास्तव में, ये क्रियाएँ आध्यात्मिक साधना का ऐन्द्रिय विकृत रूप हैं। कष्ट पाने की विकृत आवश्यकता ही तपस्वी से आत्म-पीड़न करवाती है। साधुओं का कीलों का बिछौना और ईसाई साधुओं की टाट की वेश-भूषा और कोड़ों की मार में एक, थोड़ा-बहुत छिपा हुआ, पीड़ासक्ति का प्रभाव होता है जिसे न तो स्वीकार किया जाता है, न स्वीकार किया ही जा सकता है। यह उग्र संवेदनों के लिए एक अस्वस्थ चाह या अवचेतन आवश्यकता है। वास्तव में, ये चीज़ें आध्यात्मिक जीवन से कोसों दूर की हैं। ये भट्टी, निम्न कोटि की, अँधेरी और रुग्ण हैं। इनके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन प्रकाश और सन्तुलन, सौन्दर्य और आनन्द का जीवन है। शरीर पर की जाने वाली एक प्रकार की मानसिक और प्राणिक क्रूरता ने इनका आविष्कार और गुणगान किया है। लेकिन क्रूरता, चाहे वह अपने ही शरीर पर क्यों न हो, आखिर क्रूरता है और सभी प्रकार की क्रूरता बहुत बड़ी निश्चेतना का चिह्न है। अचेतन प्रकृतियों को प्रबल संवेदनों की ज़रूरत होती है, उसके बिना उन्हें कुछ अनुभव ही नहीं होता; और क्रूरता एक प्रकार की परपीड़न कामुकता है जो बहुत प्रबल संवेदन पैदा करती है। इस प्रकार की क्रियाओं का उद्देश्य यह माना जाता है कि सभी प्रकार के संवेदनों से छुट्टी पा ली जाये ताकि शरीर आत्मा की ओर की हमारी उड़ान में और बाधा न दे सके। परन्तु इसकी उपयोगिता सन्देहास्पद है। यह भली-भाँति जानी हुई बात है कि अगर तुम तेज़ी से प्रगति करना चाहते हो तो तुम्हें कठिनाइयों से डरना न चाहिए; इसके विपरीत, जब कभी अवसर आये तब कठिन चीज़ों को चुनने से ही संकल्प-शक्ति बढ़ती है और स्नायुओं में बल आता

है। वास्तव में, तपस्या की विकृतियों और उनके विघटनकारी परिणामों के द्वारा सुख की विकृतियों और उनके अज्ञानमय परिणामों के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा, संयम और सन्तुलन के साथ समचित्तता और स्थिरता का जीवन बिताना कहीं अधिक कठिन है। अपनी भौतिक सत्ता के साथ इस हद तक बुरा व्यवहार करना कि वह शून्यवत् हो जाये, इसकी अपेक्षा, उसमें स्थिरता और सरलता के साथ सामञ्जस्यपूर्ण उत्तरोत्तर विकास पाना बहुत अधिक कठिन है। बड़े गर्व के साथ अपने संयम का प्रदर्शन करने के लिए शरीर को उसके लिए आवश्यक आहार और शुद्ध अभ्यासों से वञ्चित करने की अपेक्षा, बिना इच्छा के गम्भीरतापूर्वक जीना कहीं ज्यादा कठिन है। रोग या दुर्भावना की अवहेलना करने और उसकी ओर ध्यान न देने और उसे अपना विनाश कार्य करते रहने देने की अपेक्षा, उस पर आन्तरिक और बाह्य सामञ्जस्य, शुद्धि और सन्तुलन द्वारा विजय प्राप्त करना या उसे आने न देना बहुत ज्यादा कठिन है। और सबसे कठिन काम है चेतना को हमेशा उसकी क्षमता के शिखर पर बनाये रखना और शरीर को कभी निचले आवेगों या प्रेरणाओं के प्रभाव में आकर काम न करने देना।

इस लक्ष्य को सामने रख कर हमें चार तपस्याएँ अपनानी चाहिए, जिनके परिणामस्वरूप चार मुक्तियाँ आयेंगी। उनके अभ्यास से ही चार प्रकार की साधनाएँ या तपस्याएँ संघटित होंगी जिन्हें हम कह सकते हैं :

१. प्रेम की तपस्या
२. ज्ञान की तपस्या
३. शक्ति की तपस्या
४. सौन्दर्य की तपस्या

इनका क्रम, कह सकते हैं, ऊपर से नीचे की ओर है। परन्तु इनके क्रम को देख कर किसी को श्रेष्ठ या हीन न मान लेना चाहिए और न ही कम या ज्यादा कठिन मानना चाहिए। इससे यह भी नहीं पता चलता कि इन तपस्याओं को किस क्रम में लिया जाना चाहिए या लिया जा सकता है। इनका क्रम, महत्त्व और कठिनाई व्यक्ति-व्यक्ति के हिसाब से अलग है और इनके बारे में कोई पक्का नियम नहीं बनाया जा सकता। हर एक को

अपनी क्षमता और निजी आवश्यकता के अनुसार अपनी पद्धति खोजनी होगी और उसे कार्यान्वित करना होगा।

यहाँ केवल एक व्यापक दृष्टि दी जायेगी जो यथासम्भव पूर्ण आदर्श-प्रणाली सामने रख सके। तब हर एक इसे अपनी क्षमता के अनुसार अच्छे-से-अच्छे रूप में व्यवहार में ला सकेगा।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. ५४-५७

ऐसा लगता है कि तुम्हारे अन्दर पुकार उठी है और सम्भवतः तुम योग करने के लिए उपयुक्त हो; लेकिन योग के अनेक पथ हैं और प्रत्येक का अपना अलग उद्देश्य तथा लक्ष्य होता है। यह तो मानी हुई बात है कि सभी पथों में कामनाओं पर विजय पाने, जीवन के सामान्य सम्बन्धों से ऊपर उठ कर अनिश्चितता से चिरस्थायी निश्चिति में निवास करने को कहा जाता है। व्यक्ति अपने स्वप्न और अपनी निद्रा, भूख और प्यास इत्यादि पर भी विजय पा सकता है। लेकिन मेरे योग में ऐसा कुछ नहीं है कि तुम जीवन से अपना सम्बन्ध काट लो, अपनी सभी इन्द्रियों का हनन कर डालो या उन पर संयम का लौह अंकुश लगा दो। इस योग का उद्देश्य है—इसी जीवन में भागवत ‘सत्य’ तथा उसकी ऊर्जस्वी निश्चितताओं के ‘प्रकाश’, ‘शक्ति’ तथा ‘आनन्द’ को जीवन में उतार कर उसका रूपान्तर करना। यह योग जगत् से दूर भाग कर, तपश्चर्या का नहीं, बल्कि भागवत जीवन का योग है। पहली स्थिति में तुम्हारा लक्ष्य बस समाधि में प्रवेश करके, जगत् के अस्तित्व से पूरी तरह नाता तोड़ लेना होता है।

*

यहाँ जिस योग का अनुसरण किया जाता है उसका उद्देश्य दूसरे योगों से अलग है—क्योंकि इस योग का उद्देश्य न केवल अज्ञानी जागतिक चेतना से निकल कर भागवत चेतना में प्रवेश करना है बल्कि उस भागवत चेतना की अतिमानसिक शक्ति को नीचे मन, प्राण तथा शरीर में उतारना है ताकि वह उनका रूपान्तरण कर दे, यहाँ भगवान् को अभिव्यक्त कर, जड़-भौतिक में भागवत जीवन का निर्माण कर दे।

यह एक अत्यन्त मुश्किल लक्ष्य है और अत्यन्त कठिन योग; कइयों

को, या यह कहें कि अधिकतम को यह योग असम्भव लगेगा। जगत् की चेतना की सभी सामान्य अज्ञानी शक्तियाँ—जो यहाँ पूरी तरह से जमी हुई हैं—इस नूतन योग के विरुद्ध हैं, इसे नकारती हैं और इसके रास्ते बाधा बन कर आ खड़ी होती हैं और तब साधक अपने मन, प्राण और शरीर को इन घोरतम बाधाओं से घिरा पायेगा जो उसकी उपलब्धि में अड़ंगा लगायेंगी। अगर तुम अपने आदर्श पर जी-जान से डटे रहो, सभी बाधाओं का दृढ़ता से सामना करो, अपने अतीत और उसके पुछल्लों को पीछे कहीं दूर छोड़ दो, सब कुछ का त्याग कर दो और इस भागवत सम्भावना की चरितार्थता के लिए हर तरह का खतरा मोलने के लिए तैयार रहो, तभी, केवल तभी तुम अपनी अनुभूति द्वारा इस जगत् के पीछे का 'रहस्य' खोज निकालने की आशा कर सकते हो। इस योग की साधना किसी बँधी-बँधायी मानसिक शिक्षा अथवा मन्त्र या ध्यान इत्यादि के लिए लिखित किसी प्रणाली के सहारे नहीं चलती, बल्कि यह आगे बढ़ती है अभीप्सा द्वारा, आन्तरिक या ऊर्ध्वमुखी आत्म-एकाग्रता द्वारा, उच्च प्रभाव तथा ऊपर स्थित 'दिव्य शक्ति' और उसकी क्रिया के प्रति आत्मोद्घाटन द्वारा, हृदय में स्थित 'दिव्य उपस्थिति' के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा और उन सभी के त्याग द्वारा जो इन चीज़ों के विरोध में खड़ी रहती हैं। केवल श्रद्धा, अभीप्सा तथा समर्पण के द्वारा ही आत्मोद्घाटन हो सकता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९-२०

—श्रीअरविन्द

१. अपने-आपको अधिकाधिक समर्पित करो—अपनी समस्त चेतना को और जो कुछ उसमें घटित होता है उस सबको, अपने सभी कर्मों और सभी क्रियाओं को।

२. यदि तुम्हारे अन्दर दोष और दुर्बलताएँ हैं तो उन्हें परिवर्तित करने या विनष्ट कर देने के लिए भगवान् के सम्मुख रखो।

३. मैंने जो कुछ तुमसे कहा था उसे करने का प्रयास करो, हृदय में एकाग्र होने का अभ्यास करो जब तक कि वहाँ निरन्तर भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करने लगे।

—श्रीअरविन्द

सौन्दर्य की तपस्या

कर्म में स्वतन्त्रता

सौन्दर्य की तपस्या हमें भौतिक जीवन की तपस्या के द्वारा कर्म की स्वतन्त्रता की ओर ले जायेगी। इसका आधारभूत कार्यक्रम होगा एक ऐसा शरीर बनाना जो आकार में सुन्दर, ठवन् और भंगिमा में सामञ्जस्यपूर्ण, अपनी गतिविधि में लचीला और फुर्तीला, कार्य में सबल और स्वास्थ्य तथा जीवन-क्रियाओं में प्रतिरोध की शक्ति रखने वाला हो।

इन परिणामों को पाने के लिए, सामान्य रूप में, ऐसी आदतें डालना और उनका उपयोग करना अच्छा होगा जो भौतिक जीवन का संगठन करने में सहायक हों। क्योंकि शरीर नियमित कार्यक्रम के चौखटे में ज्यादा अच्छी तरह काम करता है। फिर भी व्यक्ति में यह सामर्थ्य होनी चाहिये कि वह अपनी आदतों का, वे चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हों, दास न बन जाये; उसमें अधिक-से-अधिक नमनीयता होनी चाहिये ताकि जब-जब ज़रूरत हो आदमी अपनी आदतों को बदल सके।

तुम्हें नमनीय और बलवान् माँसपेशियों के शरीर में इस्पात की स्नायुएँ बनानी चाहियें ताकि, जब अनिवार्य हो तो तुम सब कुछ सह सको। लेकिन साथ ही इस बात का ध्यान भी रखना चाहिये कि शरीर से, वृद्धि और प्रगति के लिए जितना प्रयास, जितनी शक्ति जरूरी है उससे ज्यादा की माँग न की जाये, उन सब चीज़ों से पूरी सावधानी के साथ बचा जाये जो थका कर चूर कर देने वाली हों और अन्त में भौतिक तत्त्वों के विघटन और क्षय की ओर ले जायें।

अतियों के बिना, उचित, नियमित जीवन

जो शारीरिक शिक्षण ऐसा शरीर बनाना चाहता है जो उच्चतर चेतना का उपयुक्त यन्त्र बन सके वह बहुत कठोर आदतों की माँग करता है : भोजन, नींद, शारीरिक व्यायाम और अन्य सभी क्रियाओं में बहुत अधिक नियमितता। तुम्हें अपने शरीर की आवश्यकताओं का बड़ी सावधानी से अध्ययन करना चाहिये—ये व्यक्ति-व्यक्ति में बदलती रहती हैं—और फिर एक सामान्य कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिये; एक बार कार्यक्रम निश्चित

हो जाये तो तुम्हें, मन-मौज या ढील के बिना कड़ाई के साथ उसका पालन करना चाहिये। उसमें उस तरह के अपवाद बिलकुल न हों जिनमें मनुष्य “केवल एक बार” के लिए रस लेता है—क्योंकि “एक बार” बार-बार आने लगता है। “केवल एक बार” से भी तुम अपने संकल्प-बल की प्रतिरोध-शक्ति को कम कर देते हो और हर पराजय के लिए द्वार खोल देते हो। तुम्हें सब कमजोरियों के लिए रास्ता बन्द कर देना चाहिए : रात की शरारतें बिलकुल न होनी चाहियें जिनसे तुम एकदम टूट कर लौटते हो। दावतों के, भकोसने के ऐसे कार्यक्रम न होने चाहियें जो पेट की सामान्य क्रिया में गड़बड़ करें। कोई ऐसे विक्षेप, मन-बहलाव या आमोद-प्रमोद न होने चाहियें जो तुम्हारी शक्ति नष्ट करते हैं और तुम्हें दैनिक अभ्यास के लिए उदासीन या निर्जीव छोड़ जाते हैं। तुम्हें एक बुद्धिमत्तापूर्ण और सुनिश्चित जीवन की तपस्या करनी चाहिये, भौतिक रूप से तुम्हारा सारा ध्यान शरीर को भरसक पूर्ण बनाने में लगा रहे। इस आदर्श लक्ष्य को पाने के लिए तुम्हें सब प्रकार की अतियों से, छोटी-बड़ी, सब तरह की बुरी आदतों से बचना चाहिये; तमाखू, शराब आदि जैसे मन्द विषों से अपने-आपको मुक्त रखना चाहिये; लोग इन्हें अनिवार्य आवश्यकता बना लेते हैं और ये धीरे-धीरे उनके संकल्प-बल और स्मृति को नष्ट कर देते हैं। बिना अपवाद के लोग, यहाँ तक कि बहुत अधिक बुद्धिवादी भी, भोजन में, उसके तैयार करने और खाने में जो सर्वग्राही रस लेते हैं, उसके स्थान पर शरीर की आवश्यकताओं के लगभग रासायनिक ज्ञान तथा इन्हें पूरा करने के लिए विशुद्ध वैज्ञानिक प्रकार की तपस्या को बिठाना चाहिये।

अपनी नींद को सुधारना

भोजन की इस तपस्या के साथ हमें एक और तपस्या भी जोड़ देनी चाहिये और वह है नींद की तपस्या। इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें सोये बिना रहना चाहिये, नहीं, तुम्हें यह जानना चाहिये कि कैसे सोया जाये। नींद का अर्थ निश्चेतना में जा गिरना न होना चाहिये जिससे शरीर ताज़ा होने की जगह, भारी हो जाये। संयत भोजन हो और सब प्रकार की अतियों से परहेज़ रहे तो सो सकने से पहले कई घण्टे ख़राब करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। फिर भी, नींद की मात्रा की अपेक्षा, उसके गुण का

महत्त्व कहीं अधिक है। अगर नींद से सचमुच लाभदायक विश्राम पाना हो तो बिस्तर पर जाने से पहले, उदाहरण के लिए, दूध, सूप या फल के रस का एक प्याला पी लेना लाभदायक होता है। हलका भोजन शान्तिपूर्ण नींद लाता है। हर हालत में, तुम्हें बहुत अधिक भोजन से बचना चाहिए। क्योंकि उससे नींद ख़राब और अशान्त होती है और दुःस्वप्न आते हैं या नींद भारी, स्थूल और तामसिक हो जाती है, लेकिन सबसे ज़रूरी चीज़ है मन को निर्मल रखना, भावनाओं को अचञ्चल रखना, इच्छाओं की बुदबुदाहट और उसके साथ की चेष्टाओं को शान्त करना, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई सोने से पहले बहुत बोल चुका हो, ज़ोरों से बहस कर चुका हो, कोई बहुत मज़ेदार और उत्तेजक चीज़ पढ़ चुका हो तो ज़्यादा अच्छा यह है कि सोने से पहले थोड़ा आराम कर लिया जाये ताकि मन के क्रिया-कलाप शान्त हो जायें और जब केवल शरीर सो रहा हो तब मस्तिष्क असंयत गतिविधियों में न फँसा रहे। दूसरी ओर, अगर तुम्हें ध्यान का अभ्यास है तो ज़्यादा अच्छा होगा कि तुम कुछ क्षणों के लिए किसी उच्च और विश्रामदायक विचार पर, उच्चतर और महानतर चेतना के लिए अभीप्सा करते हुए, अपने मन को एकाग्र करो। इससे तुम्हारी नींद को बहुत लाभ होगा और तुम बड़ी हद तक, नींद में निश्चेतना में जा गिरने के भय से सुरक्षित रहोगे।

अपनी क्रियाओं और व्यायामों में नियमितता

सम्पूर्ण विश्राम, शान्ति और नीरव निद्रा की रात्रि की तपस्या के बाद दिन की तपस्या आती है जिसकी व्यवस्था समझदारी से की जानी चाहिये। शारीरिक विकास के लिए आवश्यक क्रमबद्ध विकसनशील कसरतों और काम के बीच, तुम जो कुछ भी करो, तुम्हारी दिनचर्या बुद्धिमानी से विभाजित होनी चाहिये। ये दोनों ही शारीरिक तपस्या के अंग हो सकते हैं और होने चाहियें। जहाँ तक व्यायाम का प्रश्न है, हर एक को ऐसे व्यायाम चुनने चाहियें जो उसके शरीर के लिए सबसे अधिक अनुकूल हों। और अगर हो सके तो इसका चुनाव किसी ऐसे विशेषज्ञ की सहायता से किया जाये जो व्यायाम से होने वाले अधिकतम लाभ को दृष्टि में रखते हुए उन्हें क्रमबद्ध करके मिला सके। इनका चुनाव या कार्यान्वयन मन की मौज

के अधीन नहीं होना चाहिये। तुम्हें यह या वह चीज़ इसलिए नहीं करनी चाहिये कि वह ज़्यादा सरल या सुखद है। तुम अपने कार्यक्रम में तभी कुछ हेर-फेर करो जब तुम्हारा प्रशिक्षक उसे आवश्यक समझे। अपनी पूर्णता और उन्नति की दृष्टि से हर शरीर एक समस्या है जिसे हल करना होगा। और उसे हल करने के लिए बहुत धीरज, अध्यवसाय और नियमितता की आवश्यकता है। लोग जो कुछ भी सोचें, व्यायामी का जीवन सुख और विक्षेप का जीवन नहीं होता। इसके विपरीत, वाञ्छित परिणाम पाने के लिए यह क्रमबद्ध प्रयत्नों और कठोर अभ्यासों का जीवन होता है। इसमें बेकार और हानिकर सनकों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

कार्य में तपस्या तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना

कार्य भी एक तपस्या है। इसमें यह ज़रूरी है कि अपनी पसन्द न हो, जो भी करना हो उसे रस लेकर किया जाये। जो व्यक्ति अपने-आपको पूर्ण बनाना चाहता है उसके लिए छोटे या बड़े, महत्वपूर्ण और महत्वहीन काम के जैसी कोई चीज़ नहीं होती। जो प्रगति और आत्म-प्रभुत्व के लिए अभीप्सा करता है उसके लिए सभी काम एक-से उपयोगी हैं। कहा जाता है कि तुम जिस काम में रस लेते हो उसी को अच्छे-से-अच्छी तरह कर सकते हो। यह सच है, लेकिन यह और भी सच है कि तुम जो भी करो, चाहे वह कितना ही नगण्य क्यों न लगता हो, उसमें रस ले सकते हो। इस प्राप्ति का रहस्य पूर्णता की अभीप्सा में है। तुम्हारा चाहे जो पेशा हो, तुम्हारा चाहे जो काम हो, उसे प्रगति के संकल्प के साथ करो। तुम जो कुछ करो, उसे न सिर्फ अपनी सामर्थ्य-भर अच्छा करो, बल्कि हमेशा पूर्णता की ओर बढ़ते हुए, हमेशा अच्छे-से-अच्छा करते रहने के उत्साह के साथ करो। इस तरह, बिना अपवाद के, सभी चीज़ें रुचिकर हो जाती हैं, एकदम शारीरिक श्रम से लेकर अत्यधिक कलात्मक और बौद्धिक कार्य तक, सभी चीज़ें रुचिकर और रसप्रद हो जाती हैं। प्रगति के लिए अनन्त क्षेत्र हैं और तुम छोटी-से-छोटी चीज़ में भी गम्भीर हो सकते हो।

यह हमें स्वाभाविक रूप में कर्म में मुक्ति की ओर ले जाता है। तुम्हें अपने कार्य में सभी सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक पसन्दों से मुक्त होना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें स्वच्छन्द, असंयत जीवन

बिताना चाहिये। इसके विपरीत, यहाँ तुम एक ऐसे नियम के अधीन होते हो जो सभी सामाजिक नियमों की अपेक्षा अधिक कठोर है, क्योंकि वह किसी ढोंग को नहीं सहता, वह सम्पूर्ण निष्कपटता की माँग करता है। सभी शारीरिक क्रियाएँ इस तरह व्यवस्थित की जानी चाहियें जिससे शरीर सन्तुलन, शक्ति और सौन्दर्य में बढ़ता जाये। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य को सब प्रकार की विलास-प्रियता और काम-केलि से बचना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक कामुक क्रिया मृत्यु की ओर एक और कदम है। इसीलिए, सभी युगों में, सभी पवित्र सम्प्रदायों में, अमरता की अभीप्सा करने वालों के लिए यह क्रिया वर्जित रही है। कामुक-क्रिया के बाद ही निश्चेतना का कम या ज़्यादा लम्बा काल आता है जो सब प्रकार के प्रभावों के लिए द्वार खोल देता है और चेतना को नीचे गिरा देता है। वास्तव में जो अतिमानसिक जीवन के लिए तैयारी करना चाहता है उसे अपनी चेतना को कभी सुख-भोग, विश्राम या मन-बहलाव के बहाने भी असंयम या निश्चेतना में न फिसलने देना चाहिये। विश्राम शक्ति और प्रकाश में लेना चाहिये, न कि अन्धकार और दुर्बलता में। उन सब लोगों के लिए जो उन्नति के लिए अभीप्सा करते हैं, संयम ही नियम है। परन्तु विशेषकर उनके लिए जो अपने-आपको पूर्ण रूपान्तर और अतिमानसिक अभिव्यक्ति के लिए तैयार करना चाहते हैं, उनके लिए तो संयम की जगह पूर्ण ब्रह्मचर्य की जरूरत है जो दबाव के द्वारा या ज़ोर-ज़बरदस्ती से नहीं, बल्कि एक आन्तरिक कीमिया के द्वारा जो सामान्यतया, प्रजनन के कार्य में लगने वाली शक्ति को ओज में, प्रगति और सर्वांगीण रूपान्तर की शक्ति में बदल दे। यह कहने की तो जरूरत ही नहीं है कि पूरा-पूरा, सच्चा लाभदायक परिणाम पाने के लिए सब प्रकार की काम-वासना और आवेग को शारीरिक संकल्प के साथ-ही-साथ मानसिक और प्राणिक चेतना से निकाल बाहर करना चाहिये। समस्त आमूल और स्थायी रूपान्तर अन्दर से बाहर की ओर होता है। बाह्य रूपान्तर आन्तरिक रूपान्तर का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम होता है।

प्रकृति की आज्ञा के अनुसार वर्तमान जाति को जैसा-का-वैसा बनाये रखने के लिए शरीर को इस काम के लिए सौंप देना या इसी शरीर को एक नयी जाति की सृष्टि के लिए एक कदम बनाना—इन दोनों में से एक

निर्णायक चुनाव करना होगा। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। हर क्षण तुम्हें निश्चय करना होगा कि तुम्हें बीते कल की मानवता में बने रहना है या भावी कल की अतिमानवता का अंग बनना है।

अगर तुम भावी जीवन के लिए तैयारी करना चाहते हो और उसके सक्रिय, समर्थ सदस्य बनना चाहते हो तो तुम्हें वर्तमान जीवन के अनुसार ढलने से और उसमें सफल होने से इन्कार कर देना होगा।

अगर तुम समग्र सौन्दर्य और सामञ्जस्य में जीने के आनन्द की ओर खुलना चाहते हो तो तुम्हें अपने-आपको सुख-भोगों से वञ्चित रखना होगा।
—‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १२, पृ. ५७-६१

इस धरती पर ‘भागवत प्रेम’, ‘भागवत सौन्दर्य’ तथा ‘भागवत आनन्द’ को उतारना ही हमारे योग का शिखर तथा सारतत्त्व है। लेकिन यह करना मुझे तब तक हमेशा असम्भव लगा जब तक कि धरती को सहारा देने, और इसकी रक्षा करने के लिए इसकी नींव में ‘भागवत सत्य’—जिसे मैं ‘अतिमानस’ कहता हूँ—और उसकी ‘भागवत शक्ति’ न पैठ जायें। अन्यथा, वर्तमान चेतना के इन घपलों द्वारा अन्धा बन गया स्वयं ‘प्रेम’ अपने मानव पात्रों में डगमगा सकता है, या यह भी हो सकता है कि वहाँ वह स्वयं को अनजाना, अस्वीकृत, तेज़ी से विघटित होते हुए और मनुष्य की तुच्छ प्रकृति की चञ्चलता में अपने-आपको खोया हुआ पाये। जब बात ‘भागवत सत्य’ और ‘शक्ति’ की आती है तो सबसे पहले ‘भागवत प्रेम’ उत्कृष्ट तथा वैश्व वस्तु के रूप में अवतरित होता है और उस उत्कृष्टता तथा विश्वव्यापकता द्वारा वह स्वयं को उन व्यक्तियों में उतार लेगा जो अपने-आपको ‘भागवत सत्य’ तथा ‘भागवत इच्छा’ के अनुसार ढालेंगे, इस तरह वह एक ऐसे विस्तृत, महान् और पवित्र प्रेम को विकसित कर लेगा जिसकी वर्तमान समय में कोई मानव मन या हृदय कल्पना तक नहीं कर सकता। केवल तभी जब व्यक्ति इस अवतरण को अपने अन्दर अनुभव करेगा, वह इस जगत् में ‘भागवत प्रेम’ के जन्म और उसकी क्रिया का उपयुक्त और सच्चा साधन बन सकेगा।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३३३

—श्रीअरविन्द

शक्ति की तपस्या

प्राणिक ऊर्जा के स्रोत

यह स्वभावतः हमें प्राणिक तपस्या की ओर ले आता है : संवेदनों की तपस्या, शक्ति की तपस्या की ओर। प्राणमय पुरुष वास्तव में, शक्ति का, उपलब्ध करने वाले उत्साह का आधार है। प्राण में ही विचार संकल्प में बदल कर कर्म की सक्रियता का रूप लेता है। यह सच है कि प्राण ही कामनाओं और आवेशों, उग्र आवेशों और साथ ही उतनी ही उग्र प्रतिक्रियाओं की, विद्रोह और अवसाद की भूमि है। साधारणतः, इसका इलाज है गला घोट देना, इसे संवेदनों से वञ्चित कर देना। वास्तव में, संवेदन ही इसका मुख्य आहार है और उसके बिना यह सो जाता है, शिथिल और मन्द पड़ जाता है और अन्त में पूरी तरह ख़ाली हो जाता है।

तथ्य तो यह है कि प्राण तीन स्रोतों से पोषण प्राप्त करता है। उसके लिए सबसे आसान है, नीचे की ओर से संवेदनों द्वारा आने वाली भौतिक शक्तियों तक पहुँचना।

दूसरा स्रोत है स्वयं अपने ही स्तर पर वैश्व प्राणिक शक्तियों के साथ सम्पर्क रखना, लेकिन इसके लिए उसे काफी विशाल और ग्रहणशील होना चाहिये।

तीसरा स्रोत ऊपर की ओर है जिसके प्रति साधारणतः वह तभी खुलता है जब वह प्रगति के लिए तीव्र अभीप्सा द्वारा, आध्यात्मिक शक्तियों और अन्तःप्रेरणाओं से अनुप्राणित होकर उन्हें आत्मसात् करे।

मनुष्य प्रायः हमेशा, कम या ज़्यादा, इनमें एक और स्रोत जोड़ने की कोशिश करते हैं। साथ ही यह स्रोत उनके लिए उनके अधिकतर दुःखों और दुर्भाग्यों का स्रोत होता है। यह है अपने साथी-प्राणियों के साथ प्राणिक शक्तियों का आदान-प्रदान। साधारणतः, यह दो-दो के दल में होता है जिसे वे भूल से प्रेम मान बैठते हैं, लेकिन यह दो शक्तियों के बीच आकर्षण-मात्र होता है जो परस्पर आदान-प्रदान में ही सुख मानती हैं।

तो अगर हम अपने प्राण को भूखा नहीं मारना चाहते तो संवेदनों का न तो त्याग करना चाहिये, न उन्हें कम करना या भोथरा बनाना चाहिये। उनसे बचने की भी ज़रूरत नहीं है, बल्कि उनका बुद्धि और विवेक के

साथ उपयोग करना चाहिये। संवेदन ज्ञान और शिक्षा के लिए बहुत अच्छे यन्त्र हैं, लेकिन उन्हें इस काम में उपयोगी बनाने के लिए ज़रूरी है कि उनका उपयोग अहंकारपूर्ण हेतु के लिए, आमोद-प्रमोद के लिए या सुख और आत्म-तुष्टि की अन्धी अज्ञानमयी खोज के लिए न किया जाये।

इन्द्रियों को हर चीज़ घृणा या अप्रसन्नता के बिना ले सकनी चाहिये और साथ ही उन्हें विभिन्न प्राणिक स्पन्दनों के गुण, स्रोत और परिणाम के बारे में अधिकाधिक विवेक-शक्ति विकसित करनी चाहिये और यह जानना चाहिये कि वे भौतिक और प्राणिक सत्ता की प्रगति और उनके सन्तुलन में सहायक हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त, भौतिक और प्राणिक जगत् को उनकी सारी जटिलताओं के साथ समझने और उनका अध्ययन करने के लिए साधन के रूप में इन्द्रियों का उपयोग होना चाहिये। इस तरह वे रूपान्तर के महान् प्रयत्न में अपना सच्चा स्थान ले लेंगी।

प्राण को शुद्ध, प्रकाशयुक्त, सबल बनाना

प्राण को कमज़ोर बना कर नहीं, बल्कि उसे प्रकाशयुक्त, बलवान् और शुद्ध करके ही व्यक्ति सत्ता की सच्ची प्रगति में सहायता दे सकता है। अपने-आपको संवेदनों से वञ्चित करना भी उसी तरह हानिकर है जैसे भोजन से वञ्चित रखना। लेकिन जैसे भोजन का चुनाव बुद्धिमत्ता के साथ, शरीर के विकास और उसके व्यापार-विशेष को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये, उसी तरह संवेदनों का चुनाव और नियन्त्रण भी विशुद्ध वैज्ञानिक ढंग की तपस्या के द्वारा, इस अत्यधिक सक्रिय यन्त्र की उन्नति और पूर्णता को ही ध्यान में रखते हुए करना चाहिये, क्योंकि वह सत्ता के अन्य सभी भागों के विकास के लिए आवश्यक है।

प्राण को शिक्षा देकर, उसे अधिक शिष्ट, अधिक भावुक और अधिक सूक्ष्म या यूँ कहें, अधिक सुरुचि-सम्पन्न—शब्द के अच्छे-से-अच्छे अर्थों में—बना कर ही व्यक्ति इसकी हिंसामय उग्रताओं और पाशविकताओं पर विजय पा सकता है। ये चीज़ें प्रायः उसकी अशिष्टता और अज्ञानमयी, सुरुचिविहीन क्रियाएँ होती हैं।

वास्तव में, प्राण, जब शिक्षित और प्रकाशयुक्त हो तो, उतना ही महान्, वीर और निःस्वार्थ हो सकता है जितना अभी सहज रूप से शिक्षा के बिना

अशिष्ट, अहंकारपूर्ण और विकृत है। अगर हर एक अपने अन्दर सुख की खोज को अतिमानसिक पूर्णता की अभीप्सा में बदलना जाने तो यह काफ़ी है। उसके लिए यदि प्राण की शिक्षा अध्यवसाय और निष्कपटता के साथ काफ़ी आगे बढ़ायी जाये तो एक ऐसा क्षण आता है जब उसे लक्ष्य की महानता और उसके सौन्दर्य के बारे में विश्वास हो जाता है और वह भागवत आनन्द को पाने के लिए अपनी इन्द्रियों के तुच्छ और भ्रान्तिजनक सन्तोषों को त्याग देता है।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. ६१-६४

साधना के दौरान इस तरह की थकान कई कारणों से आ सकती है।

१. शरीर जितना ले सकने के लिए तैयार हो उससे ज़्यादा प्राप्त करने से थकान आ सकती है। तब इसका इलाज है—सचेतन अचञ्चलता में शक्तियों को ग्रहण करना, लेकिन इसका उद्देश्य हो, केवल शक्ति तथा ऊर्जा को फिर से पाना, और कोई हेतु न हो।

२. हो सकता है कि इसका कारण निष्क्रियता हो जिसने तमस् का रूप ले लिया है—निष्क्रियता चेतना को नीचे भौतिक स्तर पर खींच लाती है जो थकान में बदल कर तमस् की ओर झुक जाती है। यहाँ इलाज है—तमस् में नहीं, बल्कि दोबारा सच्ची चेतना में जाकर आराम करना।

३. बहुत अधिक शारीरिक परिश्रम के द्वारा भी थकान आ सकती है—जब शरीर को पर्याप्त नींद या आराम न दिया जाये। शरीर योग का आधार है, लेकिन इसकी ऊर्जा असीम नहीं है और इसे भी किफ़ायत से खर्च करना होता है; वैश्व प्राणिक शक्ति से ऊर्जा ग्रहण कर इसे बनाये रखा जा सकता है, लेकिन उस शक्ति की भी अपनी सीमाएँ हैं। व्यक्ति को आलसी और निष्क्रिय तो एकदम नहीं बनना चाहिये, लेकिन प्रगति की ललक में भी कुछ नियन्त्रण तो रखना ही होता है।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३९९

हाँ, किसी के बुरे और अच्छे विचारों का दूसरे पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ सकता है, हालाँकि हमेशा ऐसा नहीं भी होता है, क्योंकि वे विचार पर्याप्त रूप में बलशाली नहीं होते, लेकिन फिर भी यह प्रवृत्ति तो बनी रहती है। इसी कारण, जिन लोगों को इस बात का ज्ञान है, वे

हमेशा कहते हैं कि हमें दूसरों के बारे में बुरे विचारों से बचना चाहिये। यह सच है कि मन की सामान्य अवस्था में समान रूप से दोनों तरह के विचार आते हैं; लेकिन अगर मन और मानसिक इच्छा का अच्छी तरह से विकास कर लिया गया हो तो व्यक्ति अपने विचारों और साथ ही अपनी क्रियाओं पर नियन्त्रण स्थापित कर, बुरे विचारों को उनका खेल खेलने से रोक सकता है। लेकिन साधक के लिए बस यह मानसिक नियन्त्रण ही काफ़ी नहीं होता। उसे अचञ्चल मन प्राप्त करना चाहिये और मन की नीरवता में केवल भागवत विचार-शक्तियों या अन्य दिव्य शक्तियों को ही ग्रहण करना चाहिये, उन्हीं का कार्यक्षेत्र और यन्त्र बनना चाहिये।

मन को नीरव बनाने के लिए इतना काफ़ी नहीं है कि हर एक विचार को, जैसे ही वह आये, तुम निकाल बाहर कर दो, यह बस एक गौण क्रिया हो सकती है। तुम्हें सचमुच समस्त विचारों से दूर हट कर, उनसे अलग हो जाना चाहिये। तुम्हारे अन्दर की शान्त चेतना आने वाले विचारों का निरीक्षण करे, लेकिन न उनके बारे में सोचती रहे और न ही उनके साथ एकात्म हो जाये। तुम्हें विचारों को एकदम से बाहर की चीज़ के रूप में देखना चाहिये। तब विचारों को त्याग देना या मन की अचञ्चलता को विशुद्ध किये बिना उन्हें गुज़र जाने देना आसान होता है।

न हर्ष से न विषाद से, न सन्तोष से न असन्तोष से, न लोग जो कहते हैं या लोग जो करते हैं, न ही किसी बाहरी वस्तु से न किसी बाहरी क्रिया से अपने-आपको विचलित न होने देने को ही योग में *समता* की अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करना साधना में बहुत महत्त्व रखता है। यह चीज़ मानसिक अचञ्चलता और शान्ति को लाने में मदद करती है और साथ ही प्राण की भी सहायता करती है। अर्थात्, तब स्वयं प्राण और प्राणिक मन अचञ्चल और शान्त होने लगते हैं, इतना होने के बाद, चिन्ता और चिन्तन करने वाला मन निश्चय ही बाक़ी के पीछे-पीछे चलने को उत्सुक हो जायेगा।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ३३४-३५

यह केवल आशा ही नहीं बल्कि एक सुनिश्चित बात है कि प्रकृति का पूर्ण रूपान्तर सिद्ध होकर रहेगा।
—श्रीमाँ

ज्ञान की तपस्या

वाणी का सदुपयोग तथा दुरुपयोग

जब हम मानसिक तपस्या के विषय में बात करते हैं तो हमें तुरन्त उन लम्बे ध्यानों का ख्याल आता है जो विचारों पर नियन्त्रण और अन्त में शिखर के रूप में आन्तरिक नीरवता की ओर ले जाते हैं। योग-साधना का यह पक्ष सुपरिचित है और इसके बारे में विस्तार से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। लेकिन इसका एक और पक्ष भी है जिसकी ओर सामान्यतः लोग ज़्यादा ध्यान नहीं देते, यह है वाणी का संयम। कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर, साधारणतः, खुली बकवास के विरुद्ध पूर्ण मौन को ही खड़ा किया जाता है। लेकिन वाणी का नियन्त्रण करना पूर्ण संयम की अपेक्षा ज़्यादा महान् और फलप्रद तपस्या है।

धरती पर मनुष्य ही पहला प्राणी है जो स्पष्ट रूप में उच्चारित ध्वनि का उपयोग करता है। वह सचमुच इस पर गर्व करता है और बिना सोचे-समझे, बिना विवेक के इसका उपयोग करता है। संसार उसके शब्दों के कोलाहल से बहरा हो गया है, इसलिए कभी-कभी मनुष्य को वनस्पति-जगत् की समस्वर नीरवता का अभाव खलता है।

यह एक जाना हुआ तथ्य है कि मानसिक शक्ति जितनी कम होगी बोलने की आवश्यकता उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए, आदिम जातियाँ हैं, ऐसे लोग हैं जिन्हें कोई शिक्षा नहीं मिली, वे बोले बिना सोच ही नहीं सकते। तुम उन्हें कम या अधिक धीमी आवाज़ में बुदबुदाते सुन सकते हो। अपनी विचार-धारा का अनुसरण करने के लिए उनके पास बस, यही एक तरीका है, बोले हुए शब्दों के बिना उनके विचार कोई रूप ही नहीं ले सकते।

काफ़ी बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, पढ़े-लिखों में भी, जिनकी मानसिक शक्ति बहुत दुर्बल है और वे कहने से पहले यह नहीं जानते कि उन्हें क्या कहना है। उनके साथ बातचीत बहुत उबाने वाली हो जाती है और उसका अन्त ही नहीं होता। लेकिन जब वे बोलते हैं तो उनके विचार अधिकाधिक स्पष्ट और यथार्थ हो जाते हैं और इस कारण वे एक ही बात को बार-बार, बार-बार दोहराने के लिए बाधित होते हैं ताकि वे उसे ज़्यादा-ज़्यादा

ठीक तरह कह सकें।

कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें, वे जो कुछ कहना चाहते हों उसे पहले से तैयार करना पड़ता है और अगर उन्हें अचानक कहीं कुछ बोलना पड़ जाये तो वे हिचकिचाते, हकलाने लगते हैं, क्योंकि वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसके लिए उपयुक्त शब्दों को क्रमबद्ध करने का उन्हें समय ही नहीं मिला।

और अन्त में, कुछ जन्मजात वक्ता होते हैं जिन्हें भाषण-कला पर पूरा अधिकार होता है। वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसे कहने और भली-भाँति कहने के लिए उन्हें सहज रूप से शब्द मिलते जाते हैं और वे अच्छी तरह बोलते हैं।

फिर भी, यह सब मानसिक तपस्या की दृष्टि से बकवास की गिनती में आ जाता है। बकवास से मेरा मतलब है ऐसा कोई भी शब्द बोलना जो एकदम अनिवार्य न हो। तुम पूछ सकते हो, इसका निर्णय कैसे किया जाये? इसके लिए हमें सामान्य रूप में बोले गये शब्दों का वर्गीकरण करना होगा।

उच्चारित शब्दों की कोटियाँ

सबसे पहले, भौतिक क्षेत्र में, वे सब शब्द हैं जो भौतिक कारणों से बोले जाते हैं। वे सबसे ज़्यादा संख्या में हैं और सामान्य जीवन में शायद सबसे अधिक उपयोगी भी हैं।

ऐसा लगता है कि शब्दों की एक सतत गूँज हमारे दैनिक रूढ़ कार्य की अनिवार्य संगत बन गयी है। लेकिन फिर अगर तुम शोर को कम-से-कम करने का प्रयत्न करो तो तुम देखना शुरू करोगे कि बहुत-सी चीज़ें नीरवता में ज़्यादा अच्छी और ज़्यादा जल्दी की जा सकती हैं। और इससे आन्तरिक शान्ति और एकाग्रता बनाये रखने में भी सहायता मिलती है।

अगर तुम अकेले नहीं हो, बल्कि औरों के साथ रहते हो तो ऐसी आदत डालो कि अपने-आपको सारे समय ऊँची आवाज़ में उच्चारित शब्दों में अभिव्यक्त न करते रहो, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे और औरों के बीच थोड़ी-थोड़ी करके एक आन्तरिक समझ पैदा हो गयी है; तब तुम कम-से-कम शब्दों में या बिना शब्दों के ही एक-दूसरे से सम्पर्क रख सकोगे। यह बाहरी मौन आन्तरिक शान्ति के लिए बहुत अनुकूल होता है और अगर तुम्हारे अन्दर सद्भावना और सतत अभीप्सा है तो तुम प्रगति के लिए

सामञ्जस्यपूर्ण सहायक वातावरण पैदा कर सकोगे।

सार्वजनिक जीवन में, उन शब्दों के साथ जिनका सम्बन्ध जीविका और भौतिक व्यापार से जुड़ा होता है, वे शब्द भी जुड़ जाते हैं जो संवेदनों, भावनाओं और आवेगों को व्यक्त करते हैं। इस क्षेत्र में बाहरी मौन की आदत बहुमूल्य सहायक सिद्ध होती है। क्योंकि जब तुम पर संवेदनों या भावनाओं का हमला होता है तो मौन की यही आदत तुम्हें सोचने का अवकाश देती है और अगर ज़रूरत हो तो तुम्हें अपने संवेदनों और भावों को शब्दों में प्रकट करने से पहले ही रोक लेती है। इस तरह कितने सारे लड़ाई-झगड़ों को रोका जा सकता है; तुम कितनी बार उन मनोवैज्ञानिक विपदाओं से बच सकते हो जो बहुत बार वाणी के असंयम का परिणाम होती हैं।

उच्चारित शब्दों पर संयम रखना

तुम इस हद तक भले न जाओ, पर तुम्हें हमेशा अपने उच्चारित शब्दों पर संयम रखना चाहिये। तुम्हें अपनी जीभ को क्रोध, उग्रता या रोष के अधीन कभी काम न करने देना चाहिये। उससे आने वाले परिणामों में केवल झगड़ा ही बुरा नहीं है, बल्कि यह तथ्य भी है कि तुम अपनी जीभ के द्वारा वातावरण में बुरे भाव प्रक्षिप्त होने देते हो, क्योंकि ध्वनि के स्पन्दनों से ज्यादा छुतहा कोई और चीज़ नहीं है। इन गतियों को अपने-आपको प्रकट करने का अवसर देकर तुम उन्हें अपने अन्दर और दूसरों के अन्दर स्थायी बनाते हो।

सबसे अधिक अवाञ्छनीय प्रकार की बकवास में उस बातचीत को भी गिनना चाहिये जो तुम औरों के बारे में करते हो।

जब तक तुम संरक्षक, अध्यापक या विभागाध्यक्ष के रूप में कुछ लोगों के लिए उत्तरदायी न हो तब तक दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते इसके साथ तुम्हारा कोई सरोकार नहीं। तुम्हें औरों के बारे में बातचीत करने से, उनके बारे में राय देने से, या वे क्या करते हैं या दूसरे उनके बारे में क्या सोचते या कहते हैं, इस विषय में कुछ कहने से बचना चाहिये।

हो सकता है कि तुम्हारा काम ही ऐसा हो कि किसी विशेष विभाग या व्यवसाय या सामूहिक कार्य में क्या हो रहा है इसकी सूचना देना तुम्हारा

कर्तव्य हो जाता है। ऐसी हालत में, तुम्हारी रिपोर्ट शुद्ध रूप से काम के साथ ही सम्बद्ध होनी चाहिये, किसी व्यक्तिगत मामले से नहीं। वह हर हालत में पूरी तरह वस्तुनिष्ठ होनी चाहिये। तुम्हें उसके अन्दर व्यक्तिगत प्रतिक्रिया, पसन्द, सहानुभूति या विरोध को प्रवेश न करने देना चाहिये। विशेष रूप से, तुम्हें जो काम सौंपा गया है उसमें किसी निजी तुच्छ वैरभाव को कभी न मिलने दो।

हर हालत में, सामान्य रूप से, दूसरों के बारे में तुम जितना ही कम बोलो—उनकी प्रशंसा में भी—उतना ही अच्छा। अपने अन्दर क्या हो रहा है उसे ही ठीक-ठीक जानना इतना मुश्किल है—फिर भला निश्चित रूप से यह कैसे जाना जाये कि दूसरों में क्या हो रहा है? इसलिए किसी भी व्यक्ति के बारे में कोई अटल निर्णय न सुना दो। वह यदि दुर्भावनापूर्ण न भी हुआ तो मूर्खतापूर्ण तो अवश्य होगा।

वाणी की शक्ति

जब कोई विचार शब्दों में अभिव्यक्त किया जाता है तो ध्वनि के स्पन्दन में विचार के साथ सबसे अधिक भौतिक तत्त्व का सम्बन्ध जोड़ कर उसे ठोस और प्रभावशाली वास्तविकता बना देने की काफ़ी क्षमता होती है। इसलिए तुम्हें चीज़ों या लोगों के बारे में बुरी बातें न कहनी चाहियें, शब्दों में ऐसी चीज़ों को व्यक्त न करना चाहिये जो जगत् में भागवत उपलब्धि की प्रगति का विरोध करें। यह एक सामान्य और सुनिश्चित नियम है। किन्तु इसका एक अपवाद भी है। तुम्हें किसी चीज़ या कर्म की आलोचना तब तक न करनी चाहिये जब तक तुम्हारे अन्दर उसका—जिसकी तुम आलोचना कर रहे हो—अन्त करने या उसका रूपान्तर करने की सचेतन शक्ति और सक्रिय संकल्प न हो। वस्तुतः, इस सचेतन शक्ति और क्रियाशील संकल्प में स्थूल भौतिक पदार्थ में प्रतिक्रिया की सम्भावना उत्पन्न करने की, बुरे स्पन्दन को अस्वीकार करने की और अन्त में उसे इस हद तक सुधारने की क्षमता होती है कि उसके लिए अपने-आपको भौतिक स्तर पर व्यक्त करना असम्भव हो जाता है।

यह काम बिना किसी संकट और भय के केवल वही कर सकता है जो विज्ञानमय लोकों में विचरण करता हो और जिसे अपनी मानसिक

क्षमताओं में आत्मा का प्रकाश और सत्य की शक्ति प्राप्त हो। वह दिव्यकर्मी सब प्रकार की पसन्द और आसक्ति से मुक्त होता है। वह अपने अन्दर अहंकार की सीमाओं को तोड़ चुकता है और वह धरती पर अतिमानसिक कार्य के पूर्णतया शुद्ध और निर्वैयक्तिक यन्त्र के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता।

ऐसे शब्द भी हैं जो विचार, सम्मति, मनन और अध्ययन के परिणामों को व्यक्त करने के लिए काम आते हैं। यहाँ हम बौद्धिक क्षेत्र में हैं और यह सोच सकते हैं कि इस क्षेत्र में मनुष्य ज़्यादा समझदार और आत्म-संयमित होते हैं और यहाँ कठोर तपस्या कम अनिवार्य है। लेकिन बात ऐसी बिल्कुल नहीं है, क्योंकि यहाँ भी, लोगों ने विचारों और ज्ञान के इस क्षेत्र में भी, विश्वासों की उग्रता, साम्प्रदायिक असहिष्णुता और पसन्द का, आवेग का प्रवेश करा दिया है। अतः, यहाँ भी व्यक्ति को मानसिक तपस्या का आश्रय लेना चाहिये और उन विचारों के आदान-प्रदान से सावधानी के साथ बचना चाहिये जिनकी समाप्ति ऐसे तर्क-वितर्क में होती है जो अधिकतर कटु और प्रायः हमेशा ही निरर्थक होते हैं; और उन मतभेदों से भी बचना चाहिये जिनका अन्त गरमा-गरम बहस, यहाँ तक कि झगड़े में भी होता है। यह सब मन की संकीर्णता से आता है और जब व्यक्ति मानसिक क्षेत्र में काफ़ी ऊँचा उठ जाये तो इसका इलाज आसानी से हो सकता है।

वास्तव में, व्यक्ति जब यह जान जाये कि सूत्रबद्ध विचार उस चीज़ को कहने का केवल एक ढंग है जो वर्णन से परे है, तो फिर साम्प्रदायिकता असम्भव हो जाती है। हर विचार या भाव में थोड़ा-सा सत्य या सत्य का एक पहलू होता है, पर कोई विचार या भाव ऐसा नहीं है जो अपने-आपमें पूर्ण सत्य हो।

सापेक्षता का भाव

चीज़ों की सापेक्षता का यह भाव, व्यक्ति में सन्तुलन रखने और उसकी बातचीत में गम्भीर संयम बनाये रखने में बहुत सहायक होता है। मैंने एक गुह्यवेत्ता, जिसे कुछ ज्ञान प्राप्त था, यह कहते हुए सुना था : “कोई भी चीज़ तत्त्वतः अशुभ या बुरी नहीं है; केवल ऐसी चीज़ें हैं जो अपने स्थान पर नहीं हैं। हर एक चीज़ को उसके अपने स्थान पर रख दो और तुम

सामञ्जस्यपूर्ण संसार पा जाओगे।”

फिर भी, कार्य की दृष्टि से, विचार का मूल्य उसकी व्यावहारिक शक्ति के अनुपात में होता है। यह सच है कि यह शक्ति जिन लोगों में काम करती है उनके अनुसार बहुत भिन्न-भिन्न होती है। एक भाव-विशेष जो एक व्यक्ति में महान् प्रेरक शक्ति रखता है वही दूसरे में एकदम असफल होता है। लेकिन शक्ति अपने-आपमें संक्रामक है। कुछ भावों में दुनिया का रूपान्तर करने की शक्ति होती है। इन्हीं को व्यक्त करना चाहिये। ये आत्मा के आकाश में पथ-प्रदर्शक नक्षत्र हैं और ये ही धरती को अपनी परम उपलब्धि की ओर ले जाते हैं।

पढ़ाने के लिए काम में लाये जाने वाले शब्द

अन्त में, वे सब शब्द हैं जो पढ़ाने के लिए काम में लाये जाते हैं। शब्दों की यह श्रेणी शिशु-विहार से लेकर विश्वविद्यालय तक फैली है जिसमें मनुष्य के कलात्मक और साहित्यिक सर्जनों का भी समावेश है जो या तो मनोरञ्जक होते हैं या शिक्षाप्रद। इस क्षेत्र में सब कुछ कार्य के मूल्य पर निर्भर करता है और यह विषय इतना बड़ा है कि इसे यहाँ पर ले सकना सम्भव नहीं है। यह एक तथ्य है कि आजकल शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है और नयी-से-नयी वैज्ञानिक खोजों का उपयोग करके उन्हें शिक्षा की सेवा में लगाने का सराहनीय प्रयास हो रहा है। लेकिन सत्य के लिए अभीप्सा करने वालों के लिए यहाँ भी तप की ज़रूरत है।

आमतौर पर यह माना जाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया में हलकी, मनोरञ्जक बल्कि तुच्छ कृतियों को भी स्थान मिलना चाहिये ताकि प्रयास का दबाव कम पड़े और केवल बच्चों को ही नहीं, बड़ों को भी कुछ आसानी हो। एक दृष्टिकोण से यह सच है लेकिन दुर्भाग्यवश इस मान्यता के कारण चीज़ों की, एक ऐसी पूरी-की-पूरी श्रेणी को आयात करने का बहाना मिल गया है जो मानव प्रकृति में जो कुछ गँवारू, भद्दा और निम्न कोटि का है उसके खिलने से कम नहीं है। इस मान्यता में अत्यन्त जघन्य प्रवृत्तियों तथा अति हीन रुचियों को अनिवार्य आवश्यकता के रूप में अपना प्रदर्शन करने और अपने-आपको स्थापित करने का अच्छा बहाना मिल जाता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है; आदमी कामुक हुए बिना विश्राम कर सकता है,

वह लम्पट बने बिना भी अपने-आपको आराम दे सकता है। वह विश्राम कर सकता है, पर अपनी प्रकृति की स्थूल चीजों को उभरने दिये बिना। लेकिन तपस्या की दृष्टि से इन आवश्यकताओं को भी अपनी प्रकृति को बदलने की ज़रूरत है; आराम एक आन्तरिक नीरवता में, विश्राम ध्यान में, और शिथिलीकरण आनन्द में बदल जाता है।

मन-बहलाव की, काम में आराम की, जीवन के लक्ष्य को कुछ समय के लिए या ज़्यादा समय के लिए पूरी तरह भूल जाने की और साथ ही जीवन के मूल हेतु को भूल जाने की आवश्यकता को बिल्कुल स्वाभाविक और अनिवार्य नहीं मान लेना चाहिये। यह एक ऐसी दुर्बलता है जिसके आगे मनुष्य अभीप्सा की तीव्रता के अभाव, संकल्प-शक्ति की अस्थिरता, अज्ञान, निश्चेतना और निरुत्साह के कारण झुक जाता है। इन प्रवृत्तियों को न्यायसंगत न ठहराओ और शीघ्र ही तुम देखोगे कि ये ज़रूरी नहीं रहीं; कुछ समय बाद ये तुम्हारे लिए अरुचिकर, यहाँ तक कि, अग्राह्य हो जायेंगी। तब मनुष्य की कृतियों का एक छोटा नहीं बल्कि काफ़ी बड़ा भाग, जो “मन-बहलाव” कहाता है पर सचमुच है नीचे ले जाने वाला, अपना आधार और प्रोत्साहन खो बैठेगा।

उच्चारित शब्दों का मूल्य

फिर भी, यह न समझो कि बोले हुए शब्दों का मूल्य बातचीत के विषय पर निर्भर होता है। तुम आध्यात्मिक विषयों पर भी उसी तरह बकवास कर सकते हो जैसे किसी और विषय पर। लेकिन इस प्रकार की बकवास सबसे अधिक भयंकर बकवासों में से एक हो सकती है। उदाहरण के लिए, नया साधक जो थोड़ा बहुत जानता है उसे औरों में बाँटने के लिए बहुत उत्सुक रहता है। लेकिन जैसे-जैसे वह मार्ग पर आगे बढ़ता है उसे अधिकाधिक पता लगता है कि वह बहुत नहीं जानता और यह कि औरों को सिखाने का प्रयास करने से पहले उसे अपने ज्ञान के मूल्य के बारे में एकदम निश्चित होना चाहिये जब तक कि अन्त में वह बुद्धिमान् न हो जाये और यह अनुभव न करने लगे कि कुछ मिनटों तक उपयोगी बात करने के लिए घण्टों की नीरवता की ज़रूरत होती है। इसके अतिरिक्त, आन्तरिक जीवन और आध्यात्मिक साधना के बारे में वाणी के उपयोग

पर ज़्यादा कठोर अनुशासन रखना होगा और जब तक एकदम आवश्यक ही न हो कुछ न कहा जाये।

यह भली-भाँति जाना हुआ तथ्य है कि अगर तुम अपनी अनुभूति में इकट्ठी की गयी शक्ति को, जो तुम्हारी प्रगति को तेज़ करने के लिए है, क्षण-भर में गायब होते नहीं देखना चाहते तो तुम्हें अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के बारे में कभी न बोलना चाहिये। इसमें केवल एक ही अपवाद हो सकता है—गुरु, जब तुम उनसे अपनी अनुभूति के बारे में कोई व्याख्या चाहो या उसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई आदेश चाहो। वास्तव में, तुम केवल अपने गुरु के सामने ही इन चीज़ों के बारे में बिना किसी भय के बोल सकते हो, क्योंकि केवल गुरु अपने ज्ञान द्वारा तुम्हारी अनुभूति के तत्त्वों को तुम्हारी भलाई के लिए नयी चढ़ाई के सोपान में बदल सकते हैं।

अपने गुरु के प्रति निष्ठावान् रहो

यह सत्य है कि गुरु भी स्वयं अपनी निजी बातों के बारे में इसी तरह नीरवता के नियम के अधीन होते हैं। प्रकृति में हर चीज़ गतिशील है; अतः जो आगे नहीं बढ़ता वह पीछे हटने के लिए बाधित है। अपने शिष्य की भाँति गुरु को भी आगे बढ़ना चाहिये, चाहे उनकी प्रगति उसी स्तर पर न हो। उनके लिए भी अपनी अनुभूति के बारे में बोलना हितकर नहीं है : अनुभूति की गतिशील शक्ति को शब्दों में प्रकट किया जाये तो वह बड़ी हद तक भाप बन कर उड़ जाती है। दूसरी ओर, शिष्यों को अपने अनुभव समझा कर गुरु उनकी समझ और उनकी प्रगति में प्रबल सहायता पहुँचाते हैं। उन्हें अपनी समझ के अनुसार यह जानना होगा कि किस हद तक एक की दूसरे के लिए बलि चढ़ायें। यह तो जानी-मानी बात है कि उनके वर्णन में शेखी या अहम्मन्यता का प्रवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि ज़रा-सा अभिमान उन्हें गुरु की जगह पाखण्डी बना देगा।

रही बात शिष्य की, तो उससे मैं कहूँगी : “हर हालत में अपने गुरु के प्रति निष्ठावान् बने रहो, वे चाहे कोई भी क्यों न हों; तुम जितनी दूर तक जा सको वे तुम्हें उतनी दूर तक ले जायेंगे। लेकिन अगर तुम्हें भगवान् को ही गुरु के रूप में पाने का सौभाग्य प्राप्त हो तो तुम्हारी उपलब्धि की कोई सीमा न होगी।”

फिर भी, जब भगवान् धरती पर अवतार लेते हैं तो वे भी प्रगति के इसी विधान के अधीन होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के यन्त्र को, भौतिक सत्ता को, जो उनका परिधान होती है, सतत प्रगति की अवस्था में रहना चाहिये और उनकी निजी आत्माभिव्यक्ति का नियन्त्रण करने वाले विधान एक तरह से धरती की प्रगति के सामान्य विधान से जुड़े रहते हैं। इस तरह सशरीर भगवान् भी धरती पर तब तक पूर्ण नहीं हो सकते जब तक मनुष्य पूर्णता को समझने और स्वीकार करने के लिए तैयार न हों। ऐसा एक दिन होगा जब मनुष्य सब कुछ भगवान् के प्रति प्रेम के कारण करेंगे, आज की तरह उनके प्रति कर्तव्य मान कर नहीं। तब प्रगति एक प्रयास, और बहुधा संघर्ष होने की जगह एक आनन्द होगी, या यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि प्रगति समस्त सत्ता की निष्ठा के आनन्द के द्वारा होगी, अहंकार के प्रतिरोध के दमन द्वारा नहीं, जिसका अर्थ होता है बहुत प्रयास और कभी-कभी बहुत दुःख-कष्ट।

अन्त में, मैं तुमसे यह कहूँगी : यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी वाणी सत्य को अभिव्यक्त करे और इस तरह भागवत शब्द की शक्ति प्राप्त करे तो पहले से मत सोचो कि तुम क्या कहोगे, यह निश्चय न करो कि क्या कहना अच्छा या बुरा होगा, यह हिसाब न लगाओ कि जो तुम कहने वाले हो उसका क्या प्रभाव होगा। अपने मन में नीरव रहो और 'सर्व-प्रज्ञा', 'सर्व-ज्ञान', 'सर्व-चेतना' के लिए सतत अभीप्सा के सच्चे भाव में स्थिर रहो। तब, अगर तुम्हारी अभीप्सा निष्कपट है, अगर यह चीज़ों को अच्छी तरह करने और सफल होने की महत्त्वाकांक्षा को छिपाने के लिए एक आवरण नहीं है, अगर वह शुद्ध, सहज और सर्वांगीण है तो तुम सरलता के साथ बोल सकोगे, वही शब्द बोलोगे जो बोले जाने चाहियें, न अधिक, न कम, और उनमें सर्जक शक्ति होगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ६४-७२

... इन परिवेशों में और इस तरह की बातचीत के दौरान जो चैत्य आत्म-संयम वाञ्छनीय है उसमें दूसरी चीज़ों के साथ-साथ निम्नलिखित बातों का भी ध्यान रखना चाहिये :

१. बिना सोचे-विचारे, आवेश में आकर अपनी बात को मनवाने के

लिए उतारू न होना, बल्कि हमेशा सचेतन संयम के साथ, और जो कुछ जरूरी और सहायक हो, वही बोलना।

२. हर तरह की बहस, वाद-विवाद, छोटे-मोटे झगड़ों, जोशपूर्ण बातचीत इत्यादि से बचने के लिए, जो बात कहनी है उसे शान्ति से कह कर, बात को वहीं छोड़ देना। तुम्हारी तरफ़ से यह आग्रह भी नहीं होना चाहिये कि तुम सही हो और दूसरे ग़लत, बल्कि विषय के सत्य को ध्यान में रखते हुए तुम्हें अपने मत और विचार का योगदान देना चाहिये। इस चर्चा में 'क' द्वारा कथित बातें जो तुमने मुझे बतायीं उनमें अपनी सच्चाई है, और वहीं जो तुमने कहा वह भी सच है। तो अगर दोनों में सच्चाई है तो बहस का प्रश्न ही कहाँ से खड़ा हो गया भला?

३. तुम्हारी बात का लहजा और तुम्हारे शब्द शान्त और अचञ्चल हों और अपनी बात को मनवाने का आग्रह कभी न करो।

४. गर्मजोशी में आकर अगर दूसरे झगड़ें और बहस पर उतर आयें, फिर भी तुम अपना आपा न खोओ। शान्त और अचञ्चल बने रहो और खुद तुम तभी मुँह खोलो जब तुम्हारा बोलना चीज़ों को सुधारने में सहायक हो।

५. अगर दूसरों के बारे में गपशप और कड़ी आलोचनाएँ (विशेष रूप से साधकों के बारे में) चल रही हों तो उसमें भाग मत लो—क्योंकि ये चीज़ें किसी भी हालत में लाभकारी नहीं होतीं, ये तो बस चेतना को उसके उच्चतर स्तर से नीचे ले आती हैं।

६. उन सभी चीज़ों से बचो जो दूसरों को चोट या ठेस पहुँचायें।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ८७

—श्रीअरविन्द

अधीरता और उद्विग्न अशान्ति प्राण से आती हैं जो उन चीज़ों को अभीप्सा में भी ले आता है। अभीप्सा होनी चाहिये तीव्र, स्थिर और प्रबल (यह सच्चे प्राण का भी स्वभाव है) और उसे अशान्त तथा अधीर नहीं होना चाहिये—केवल तभी अभीप्सा स्थायी हो सकती है।

—श्रीअरविन्द

प्रेम की तपस्या

प्रेम का क्षेत्र

सभी तपस्याओं में यह सबसे कठिन है, संवेदन और भावों की तपस्या, प्रेम की तपस्या।

वस्तुतः, शायद भावों के क्षेत्र में मनुष्य को, अन्य सब क्षेत्रों से बढ़ कर, एक विवशता, अदम्यता और अनिवार्यता का अनुभव होता है, एक शासक नियति का भाव होता है जिससे वह बच नहीं सकता। प्रेम को (कम-से-कम वह चीज़ जिसे मनुष्य यह नाम देते हैं) विशेष रूप में एक ऐसा निरंकुश प्रभु माना जाता है जिसकी सनकों से नहीं बचा जा सकता, जो तुम्हारे ऊपर मनचाहे ढंग से प्रहार करता है, और तुम चाहो या न चाहो, तुम्हें आज्ञापालन के लिए बाधित करता है। प्रेम के नाम पर बुरे-से-बुरे अपराध किये गये हैं, बेलगाम मूर्खताएँ की गयी हैं।

और फिर भी, मनुष्य ने प्रेम की इस शक्ति को वश में करने की आशा से, इसे सौम्य और विनीत बनाने के लिए सब प्रकार के नैतिक और सामाजिक नियम बनाये हैं, लेकिन ऐसा लगता है कि वे नियम तोड़ने के लिए ही बनाये गये थे और उसकी स्वच्छन्द गति पर लगाये गये प्रतिबन्ध उसकी विस्फोटक शक्ति को बढ़ाते प्रतीत होते हैं। क्योंकि प्रेम की गतिविधि को नियमों के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता। प्रेम के अदम्य आवेगों को केवल प्रेम की अधिक महान्, अधिक ऊँची और अधिक सच्ची शक्ति ही वश में कर सकती है। प्रेम ही प्रेम पर, उसे प्रकाशित करके, उसका रूपान्तर करके और उसे बढ़ा कर शासन कर सकता है। क्योंकि यहाँ भी, अन्य किसी भी और स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक, संयम दबाने या त्यागने में नहीं, एक उदात्त कीमिया के द्वारा रूपान्तरित करने में है। इसका कारण यह है कि संसार पर क्रिया करने वाली सभी शक्तियों में प्रेम ही सबसे अधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक अदम्य है। प्रेम के बिना जगत् फिर से निश्चेतना की अवस्था में जा गिरेगा।

वस्तुतः, चेतना विश्व की स्रष्टा है, परन्तु प्रेम उसका रक्षक है। केवल सचेतन अनुभूति ही इस बात की झाँकी दे सकती है कि प्रेम क्या है, क्यों है और कैसे है। उसकी प्रतिलिपि शब्दों में निश्चित रूप से उस वस्तु का

मानसिक छद्मवेश है जो सब प्रकार की अभिव्यक्ति से हर तरह से बच निकलती है। दार्शनिक, गुह्यवेत्ता, रहस्यवादी, सब प्रयास कर चुके हैं, लेकिन व्यर्थ। मैं यह दावा नहीं करती कि जहां वे असफल हो गये वहाँ मैं सफल होऊँगी। मेरा उद्देश्य है उस चीज़ को सरल-से-सरल भाषा में रखना जो उनकी लेखनी के द्वारा इतना अमूर्त और जटिल रूप ले लेती है। मेरे शब्दों का केवल यही लक्ष्य होगा कि वे एक बच्चे को भी जीवित-जाग्रत् अनुभूति की ओर ले जायें।

प्रेम का सार-तत्त्व

प्रेम, अपने सार-तत्त्व में, एकात्मता का आनन्द है; वह ऐक्य के आनन्द में अपनी चरम अभिव्यक्ति पाता है। इन दो अवस्थाओं के बीच वैश्व अभिव्यक्ति के सभी पक्ष आ जाते हैं।

इस अभिव्यक्ति के आरम्भ में, प्रेम अपने उद्गम की पवित्रता में दो गतियों से बना होता है, पूर्ण मिलन की प्रवृत्ति के दो पूरक ध्रुवों से बना होता है। एक ओर आकर्षण की परमा शक्ति और दूसरी ओर है पूर्ण आत्म-समर्पण की आवश्यकता जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। व्यक्तिगत सत्ता में चेतना के अपने मूल स्रोत से बिछुड़ कर निश्चेतना बनते समय जो खाई खुद गयी थी उसे पाटने के लिए कोई और शक्ति प्रेम से बढ़ कर नहीं हो सकती।

जो चीज़ देश-काल में प्रक्षिप्त की गयी थी उसे इस भाँति बनी हुई सृष्टि को नष्ट किये बिना स्वयं अपने में वापिस लाना था। इसके लिए प्रेम, जो मिलन की एकमात्र अदम्य शक्ति है, उमड़ पड़ा।

वह अन्धकार और निश्चेतना पर मँडराता रहा है, उसने अपने-आपको अगाध रात्रि के वक्ष में बिखेर दिया है, चूर-चूर कर दिया है। और तभी से जागरण और आरोहण का आरम्भ हुआ है, धीरे-धीरे जड़तत्त्व का निर्माण और उसका अन्तहीन विकास शुरू हुआ था। क्या यह प्रेम ही नहीं है जो एक भ्रान्तिपूर्ण और अँधेरे रूप में भौतिक और प्राणिक प्रकृति की सभी प्रेरणाओं के साथ जुड़ा है तथा प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक समूहीकरण की ओर प्रेरित करता है? वनस्पति-जगत् में यह बिलकुल स्पष्ट दिखायी देता है। पेड़-पौधों में यह अधिक प्रकाश और अधिक हवा, अधिक स्थान पाने

के लिए बढ़ने की आवश्यकता है, तो फूलों में यही अपने सौन्दर्य और सुरभि के समर्पण का प्रेमभरा प्रस्फुटन है। और पशु-जगत् में यही भूख-प्यास, अधिकार, विस्तार और प्रजनन, संक्षेप में कहें तो सभी कामनाओं के पीछे जाने-अजाने रूप में रहता है। और उच्चतर श्रेणियों में मादा की अपने बच्चों के लिए निःस्वार्थ निष्ठा में यही चीज़ होती है। यह चीज़ हमें स्वभावतः मानवजाति तक ले जाती है जहाँ मानसिक गतिविधि के विजयपूर्ण आगमन से यह सम्बन्ध अपनी चरम सीमा को पा लेता है, क्योंकि वहाँ पर यह सचेतन और सुविवेचित है। वास्तव में, धरती के विकास में जब यह सम्भव हुआ तो प्रकृति ने प्रेम की इस महान् शक्ति को लेकर प्रजनन के साथ जोड़ कर, मिला कर अपनी सर्जक शक्ति की सेवा में लगा दिया। यह संयोग इतना ज़्यादा हिल-मिल कर घनिष्ठ हो गया कि बहुत कम लोगों में इतनी प्रबुद्ध चेतना है कि वे इन दोनों को अलग करके इनका अलग-अलग अनुभव कर सकें। इस प्रकार प्रेम को सब तरह की अधोगति सहनी पड़ी, वह पशुता के स्तर पर उतर गया।

इसी अवस्था से प्रकृति के कामों में धीरे-धीरे क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा अधिकाधिक जटिल और बहुतेरे समूहों की सहायता से फिर से आद्य ऐक्य की रचना करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में प्रकट हुई। उसने प्रेम की शक्ति द्वारा दो मनुष्यों को साथ लाकर दो का समूह पैदा किया जो कुटुम्ब का मूल है। एक बार उसने व्यक्तिगत अहंभाव की सीमाओं को दोहरे अहं का रूप देकर तोड़ दिया और फिर बालक को प्रकट करके परिवार की ज़्यादा जटिल इकाई को जन्म दिया। आगे चल कर कुटुम्बों के अनेक सम्बन्धों और व्यक्तियों के आदान-प्रदान और रक्त के मिश्रण से गोत्र, वंश, जाति, वर्ग और अन्त में, राष्ट्र की रचना की। समूहों की रचना का यह काम संसार-भर में एक ही साथ अलग-अलग स्थानों पर होता रहा और इसी ने विभिन्न जातियों के निर्माण को स्पष्ट रूप दिया। प्रकृति इन जातियों को भी, धीरे-धीरे, मानव एकता का स्थूल और वास्तविक आधार बनाने के प्रयत्न में एक-दूसरे से मिला देगी।

अधिकतर लोगों की चेतना को यह जीवन के संयोगों का खेल लगता है; किसी सार्वभौम योजना की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। परिस्थितियाँ जैसे-जैसे आती हैं, वे उन्हें अपने स्वभाव के अनुसार कम या ज़्यादा आसानी

के साथ स्वीकारते हैं, कुछ लोग सन्तुष्ट होते हैं और कुछ असन्तुष्ट।

सन्तुष्ट लोगों की एक श्रेणी

सन्तुष्ट लोगों में, एक श्रेणी ऐसे लोगों की है जो प्रकृति के तौर-तरीके के साथ पूरा मेल खाते हैं : ये हैं आशावादी। उन्हें रात के कारण दिन अधिक प्रकाशमान दीखता है, छाया के कारण रंग अधिक चमकीले होते हैं, कष्ट के कारण हर्ष अधिक तीव्र होता है, दुःख सुख को अधिक मोहक बनाता है। रोग स्वास्थ्य को उसका पूरा मूल्य प्रदान करता है; मैंने कुछ लोगों को यह कहते हुए भी सुना है कि वे दुश्मन पाकर खुश होते हैं, क्योंकि तब वे अपने मित्रों का मूल्य ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। बहरहाल, ऐसे लोगों के लिए काम-केलिय सबसे सुखकर कार्य है, जीभ की सन्तुष्टि जीवन के उन रसों में से है जिनके बिना काम नहीं चल सकता; उनके लिए यह बिलकुल स्वाभाविक बात है कि जो पैदा हुआ है उसे मरना भी होगा : यह उस यात्रा का अन्त है जो अगर बहुत ज्यादा चलती तो नीरस और उबाऊ हो जाती।

संक्षेप में, उन्हें जीवन जैसा है वैसा ही बिलकुल ठीक लगता है। वे यह जानने की परवाह नहीं करते कि उसका कोई हेतु या लक्ष्य भी है या नहीं; वे दूसरों के दुःख-दैन्य से कष्ट नहीं पाते और प्रगति की कोई आवश्यकता नहीं देखते।

लेकिन तुम्हें ऐसे लोगों का “मत-परिवर्तन” करने की कोशिश कभी नहीं करनी चाहिये; यह बहुत बड़ी भूल होगी। अगर दुर्भाग्यवश वे तुम्हारी बात मान भी लें तो वे अपना वर्तमान सन्तुलन खो बैठेंगे, लेकिन कोई नया सन्तुलन न पा सकेंगे। वे आन्तरिक जीवन के लिए तैयार नहीं हैं, लेकिन वे प्रकृति के प्यारे हैं; उसके साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री है और उनकी इस प्राप्ति को बिना कारण धक्का न पहुंचना चाहिये।

संसार में दूसरे सन्तुष्ट लोग ऐसे हैं जो इनसे जरा कम सन्तुष्ट और, सबसे बढ़ कर, कम स्थायी रूप में सन्तुष्ट हैं। उनकी सन्तुष्टि प्रेम की क्रिया के जादू के कारण होती है। हर बार जब कोई व्यक्ति उस संकीर्ण सीमा को तोड़ता है जिसमें उसके अहं ने उसे बन्द कर रखा है, जैसे ही वह आत्म-दान के कारण खुली हवा में उठता है, वह चाहे किसी और

मनुष्य के लिए हो या परिवार या देश या अपने श्रद्धा-विश्वास के लिए, उसे इस आत्म-विस्मृति के अन्दर प्रेम के अद्भुत आनन्द का पूर्वानुभव प्राप्त होता है और इससे उसे ऐसा लगता है कि वह भगवान् के सम्पर्क में आ गया है। लेकिन बहुधा यह क्षणिक सम्पर्क होता है, क्योंकि मनुष्यों में प्रेम तुरन्त अहंकारपूर्ण निम्न गतियों में मिल जाता है जो उसे दूषित कर देती हैं और उसकी पवित्रता की सारी शक्ति को हर लेती हैं। फिर भी, अगर वह शुद्ध बना भी रहता तो भी भागवत सत्ता के साथ यह सम्पर्क चिरस्थायी न होता, क्योंकि प्रेम भगवान् का केवल एक पक्ष है, एक ऐसा पक्ष जो धरती पर अन्य पक्षों की तरह समान रूप से विकृत हो गया है।

मानव से परे जाना

बहरहाल, ये सब अनुभूतियाँ उस सामान्य मनुष्य के लिए बहुत अच्छी और उपयोगी हैं जो सामान्य पथ पर भावी ऐक्य के लक्ष्य की ओर डगमगाते पैरों से बढ़ती हुई प्रकृति का अनुसरण करता है, लेकिन इनसे उन लोगों को सन्तोष नहीं हो सकता जो गति को तेज़ करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ये उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकतीं जो किसी और धारा का, अधिक सीधी और अधिक तेज़ धारा का अनुसरण करना चाहते हैं, जो उन्हें सामान्य मानव प्रकृति और उसकी अनन्त यात्रा से मुक्त कर दे, जो उन्हें आध्यात्मिक प्रगति में भाग लेने-योग्य बना दे, जो उन्हें द्रुततम मार्ग से उस नयी जाति की सृष्टि की ओर ले जाये जो धरती पर अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करेगी। इन विशिष्ट आत्माओं को मनुष्य-मनुष्य के बीच सारे प्रेम का त्याग करना होगा, क्योंकि वह चाहे कितना भी सुन्दर और पवित्र क्यों न हो, वह एक प्रकार से लघु परिपथ (शॉर्ट सर्किट) बना देता है और भगवान् के साथ सीधे सम्बन्ध को काट देता है।

जिसने भागवत प्रेम को जान लिया है वह और सभी प्रकार के प्रेम को धुँधला, क्षुद्र तथा अहंकार और अन्धकार से बहुत मिला हुआ पाता है; वह श्रेष्ठता और अधिकार के लिए सतत मोल-तोल तथा संघर्ष के जैसा लगता है और अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी वह गलतफ़हमी, चिड़चिड़ेपन, मन-मुटाव और नासमझी से भरा रहता है।

और फिर, यह जानी हुई बात है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसी

के जैसे बनते जाते हो। अतः, अगर तुम भगवान् जैसे बनना चाहो तो तुम्हें केवल 'उन्हीं' से प्रेम करना चाहिये। जिसने भगवान् के सायुज्य के आनन्द का अनुभव किया है वही जान सकता है कि बाक़ी सारा प्रेम उसकी तुलना में कितना नीरस, मन्द और शक्तिहीन होता है और यदि इस सायुज्य को प्राप्त करने के लिए कठोरतम तपस्या की ज़रूरत पड़े तो भी कोई चीज़ अत्यन्त कठिन, बहुत अधिक लम्बी या अत्यन्त कठोर नहीं है—बशर्ते कि वह तुम्हें वहाँ तक पहुँचा दे—क्योंकि यह सब प्रकार की अभिव्यक्ति से परे है।

प्रेम की रूपान्तरकारी शक्ति

हम धरती पर इस अद्भुत स्थिति को चरितार्थ करना चाहते हैं। यही धरती का रूपान्तर करके उसे भागवत सत्ता के योग्य आवास बनायेगी। तब सच्चा और विशुद्ध प्रेम एक ऐसे शरीर में अवतार लेगा जो उसके लिए आवरण या छद्मवेश न रहेगा। तपस्या को ज़्यादा सरल बनाने के लिए तथा ज़्यादा नज़दीक और स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकने वाली घनिष्टता उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने प्रेम के सर्वोच्च रूप में एक ऐसा भौतिक शरीर ग्रहण करने की इच्छा की जो देखने में मनुष्य-शरीर के जैसा ही हो। लेकिन हमेशा ही जड़-द्रव्य के स्थूल रूप में बन्द होने के कारण वे अपना एक विकृत रूप ही व्यक्त कर सके। और अपनी पूर्णता के वैभव में वे अपने-आपको तभी अभिव्यक्त कर सकेंगे जब मनुष्य अपनी चेतना और शरीर में कुछ अनिवार्य प्रगति कर लेंगे; क्योंकि मनुष्य का तुच्छता-भरा मिथ्याभिमान और उसका मूर्खतापूर्ण अहंभाव, मानव शरीर में अभिव्यक्त भव्य भागवत प्रेम को दुर्बलता, निर्भरता और आवश्यकता का चिह्न मान लेता है। लेकिन फिर भी, मनुष्य शुरू में धुँधले रूप में, लेकिन जैसे-जैसे वह पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज़्यादा स्पष्ट रूप में यह जानने लगता है कि केवल प्रेम ही संसार के दुःख-कष्ट का अन्त ला सकता है; प्रेम का अनिर्वचनीय आनन्द ही, अपने सार-तत्त्व में, संसार से बिछोह की जलती हुई पीड़ा को दूर कर सकता है। क्योंकि परम ऐक्य के आनन्द में ही सृष्टि को अपने अस्तित्व का हेतु और उसकी चरितार्थता प्राप्त हो सकती है।

इसीलिए कोई भी प्रयास बहुत कठिन नहीं है, कोई तपस्या बहुत कठोर नहीं है अगर वह भौतिक तत्त्व को इतना प्रकाशित, शुद्ध, पूर्ण और रूपान्तरित कर सके कि भगवान् जब उसमें रूप धारण करें तो वह उन्हें छिपा न पाये। तब वह अद्भुत कोमलता अपने-आपको इस जगत् में मुक्त रूप से प्रकट कर सकेगी, इस भागवत प्रेम में ही जीवन को मधुर आनन्द के स्वर्ग में बदलने की क्षमता है।

तुम कह सकते हो कि यह तो चरम उद्देश्य, प्रयास का मुकुट, अन्तिम विजय है; लेकिन वहाँ तक पहुँचने के लिए क्या किया जाये? कौन-से मार्ग का अनुसरण किया जाये और रास्ते के पहले कदम कौन-से हैं?

विजय-पथ

चूँकि हमने यह निश्चय कर लिया है कि पूर्ण वैभवमय प्रेम को भगवान् के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के लिए सुरक्षित रखें, इसलिए औरों के साथ अपने सम्बन्ध में प्रेम की जगह एक पूर्ण अपरिवर्तनशील, स्थायी और अहंकारशून्य शुभ-कामना और सद्भावना रखेंगे जो बदले में किसी पुरस्कार, कृतज्ञता या मान्यता की भी आशा न करेगी। दूसरे तुम्हारे साथ चाहे जैसे व्यवहार करें, तुम अपने-आपको किसी मनोमालिन्य या नाराज़गी में न बहने दोगे; और भगवान् के प्रति अपने विशुद्ध प्रेम में तुम उन्हें ही इस बात के लिए एकमात्र निर्णायक बनाओगे कि वे दूसरों की गलतफ़हमी और दुर्भावना से तुम्हारी रक्षा कैसे करेंगे।

तुम अपने आनन्द या अपने सुख के लिए केवल भगवान् पर ही निर्भर रहोगे, केवल उन्हीं में सहायता और आश्रय खोजोगे और पाओगे। वे तुम्हें हर दुःख में आश्वासन देंगे, तुम्हें पथ पर चलायेंगे, तुम ठोकर खा जाओ तो तुम्हें उठायेंगे और यदि दुर्बलता और क्लान्ति की घड़ियाँ आयें तो प्रेम की बलवान् भुजाओं में लेकर अपनी सुखद मधुरिमा में लपेट लेंगे।

यहाँ एक ग़लतफ़हमी से बचने के लिए मुझे यह बता देना चाहिये कि भाषा की माँग के कारण मुझे भगवान् के लिए पुल्लिंग रूप का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन वास्तव में मैं प्रेम के रूप में जिस सत्य के बारे में बोल रही हूँ वह स्त्रीलिंग और पुल्लिंग सब प्रकार के लिंगों से ऊपर और परे है; और जब वह मानव देह लेता है, तो तटस्थ भाव से, उसे

जो काम करना है उसकी ज़रूरत की दृष्टि से नर या नारी का शरीर धारण करता है।

संक्षेप में, भाव की तपस्या में सब प्रकार की भाव-सम्बन्धी आसक्ति का त्याग आता है, वह चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, चाहे किसी व्यक्ति के लिए हो, परिवार के लिए हो, देश के लिए हो या किसी और चीज़ के लिए हो। और इस त्याग के साथ भगवान् के लिए अनन्य रूप से आसक्ति होनी चाहिये। इस एकाग्रता की पूर्णाहुति होगी सर्वांगीण तादात्म्य में, और यह धरती पर अतिमानसिक उपलब्धि के लिए यन्त्र-रूप होगी।

चार मुक्तियाँ

यह बात हमें बिलकुल स्वाभाविक रूप में चार मुक्तियों तक ले जाती है जो इस सिद्धि के चार मूर्त रूप हैं। भाव-सम्बन्धी मुक्ति—अतिमानसिक एकता की सर्वांगीण उपलब्धि के परिणामस्वरूप—कष्टों से मुक्ति होगी।

मानसिक मुक्ति, अर्थात्, अज्ञान से मुक्ति सत्ता में प्रकाशमय मन, अर्थात्, अतिमानसिक चेतना की प्रतिष्ठा करेगी जो अपने-आपको 'वाणी' की सर्जक शक्ति के रूप में प्रकट करेगी।

प्राणिक मुक्ति या इच्छा-कामना से मुक्ति व्यक्तिगत संकल्प को भागवत संकल्प के साथ पूरी तरह और सचेतन रूप में एक होने की क्षमता प्रदान करेगी और सतत शान्ति, धीरज और परिणामस्वरूप, शक्ति लायेगी।

अन्त में, सबसे ऊपर मुकुट के रूप में आती है भौतिक मुक्ति या भौतिक कार्य-कारण के नियम से मुक्ति। तुम पूरी तरह अपने स्वामी होने के कारण प्रकृति के नियमों के दास नहीं रहते जिसके कारण तुम अवचेतन और अर्धचेतन प्रेरणाओं द्वारा चलाये जाते हो, जो तुम्हें साधारण जीवन की लीक से बाँध देती हैं। इस मुक्ति के कारण तुम पूर्ण ज्ञान के साथ यह निश्चय कर सकते हो कि तुम कौन-सा मार्ग अपनाना चाहते हो, उस कार्य को चुन सकते हो, जिसे तुम चरितार्थ करना चाहते हो, अपने-आपको अन्ध नियति से मुक्त कर सकते हो।

अपने जीवन पथ में उच्चतम संकल्प, सत्यतम ज्ञान और अतिमानसिक चेतना के सिवा किसी और को हस्तक्षेप न करने दो।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. ७२-७९

भगवान् के द्वारा सब कुछ किया जा सकता है। हृदय और प्रकृति को शुद्ध, आन्तरिक चेतना को प्रबुद्ध किया जा सकता है; वे सभी आवरणों को हटा सकते हैं—हाँ, शर्त बस इतनी है कि तुम विश्वास और भरोसे के साथ स्वयं को प्रभु को सौंप दो, भले तुम एक साथ, पूरी तरह, अपने-आपको निछावर न भी कर सको, फिर भी जैसे-जैसे तुम्हारा समर्पण बढ़ेगा, वैसे-वैसे आन्तरिक सहायता और पथ-प्रदर्शन भी बढ़ते जायेंगे और तुम अपने अन्दर भागवत अनुभूति तथा सम्पर्क के विकास का भी निरन्तर अनुभव करते रहोगे। अगर तुम्हारे अन्दर का प्रश्नकर्ता मन कम सक्रिय हो जाये, तुम्हारे अन्दर नम्रता और समर्पण करने की इच्छा जाग उठे तो ऐसा करना पूरी तरह सम्भव होगा। तब इसके अलावा और किसी शक्ति या तपस्या की आवश्यकता नहीं रहती।

समर्पण की प्रक्रिया अपने-आपमें एक तपस्या है। न केवल इतना ही, बल्कि वस्तुतः यह तपस्या की दोगुनी प्रक्रिया है, क्योंकि अपने-आपका काफ़ी हद तक समर्पण करने के बाद भी निरन्तर बढ़ता हुआ समर्पण पथ पर काफ़ी समय तक चलता ही चला जाता है। फिर एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति 'भागवत उपस्थिति' तथा 'भागवत शक्ति' का निरन्तर अनुभव करता है और अधिकाधिक यह अनुभव करता है कि वही सब कुछ कर रही है—तब बुरी-से-बुरी कठिनाइयाँ भी इस अनुभव को विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं और तब व्यक्ति का निजी प्रयास आवश्यक नहीं रह जाता, वह सचमुच सम्भव ही नहीं होता। यही है अपनी प्रकृति का परम प्रभु के हाथों में पूर्ण समर्पण का लक्षण। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें इस अनुभूति के आने से पहले ही श्रद्धा प्रतिष्ठित हो जाती है और अगर भक्ति तथा श्रद्धा प्रबल और सुदृढ़ हों तो वे उन्हें अनुभूति तक आगे बढ़ा ले जाती हैं। लेकिन सभी पहले से यह स्थिति नहीं अपना सकते—और कुछ के लिए तो यह ख़तरनाक भी साबित हो सकती है, क्योंकि यह सोचते हुए कि वे अपने-आपको परम प्रभु के हाथों में सौंप रहे हैं, किसी ग़लत शक्ति के हाथों में डाल सकते हैं। अधिकतर के लिए तपस्या के द्वारा समर्पण में विकसित होना अनिवार्य होता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९, ८२

—श्रीअरविन्द



इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई खतरा नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ३, पृ. ७

हमारे योग का लक्ष्य है

यह पुराना विचार कि साधकों को एक दूसरे से एकदम पृथक् रहना चाहिये, न कोई सम्बन्ध हो, न कोई आदान प्रदान, और यह कि हमेशा वे एक दूसरे के प्रति तलवारें ताने खड़े रहें, इसे हमें पूरी तरह से त्यागना होगा। सच्चे यौगिक जीवन का मूलमन्त्र है सामञ्जस्य। योग के बारे में ये पूर्वकल्पित विचार शायद निर्वाण की प्राचीन धारणा से आये हैं कि निर्वाण ही लक्ष्य है; यहाँ हमारी साधना का लक्ष्य निर्वाण नहीं बल्कि जीवन में, इस धरती पर भगवान् को चरितार्थ करना है। यहाँ हमें एक दूसरे के प्रति द्वेष या क्लेश नहीं रखना चाहिये, निस्सन्देह ये सब अयौगिक चीज़ें हैं।

हमारे योग का लक्ष्य है कि हमारे सारे जीवन के केन्द्र में भगवान् होने चाहियें, हमारे चारों ओर उन्हीं का वास हो और यहाँ के साधकों का जीवन उसी दृढ़ नींव पर टिका होना चाहिये, उनके वैयक्तिक सम्बन्धों की धुरी भी ईश्वर ही होने चाहियें। इसके अतिरिक्त, यहाँ सभी सम्बन्धों का आधार प्राण से हट कर आध्यात्मिक होना चाहिये, प्राण आध्यात्मिक के लिए मात्र एक ख़ाका हो, केवल एक यन्त्र। इसका यह अर्थ हुआ कि मनुष्य-मनुष्य के बीच की सभी प्राणिक गतियों का—ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध तथा दूसरी दुष्ट प्राणिक भावनाओं का—त्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि ये चीज़ें आध्यात्मिक जीवन का हिस्सा क़तई नहीं हो सकतीं। उसी तरह, समस्त स्वार्थभरे प्रेम तथा आसक्तियों को भी देश-निकाला देना होगा—उस प्रेम को जो केवल अहंकार के वशीभूत हो प्रेम करता है और जैसे ही अहं को चोट लगती है या वह असन्तुष्ट हो जाता है, वह प्रेम करना छोड़ देता है, यहाँ तक कि ईर्ष्या और घृणा में बदल जाता है। प्रेम के पीछे सचमुच एक जीवन्त और चिरस्थायी एकता होनी चाहिये। निस्सन्देह, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कामुक अशुद्धियों इत्यादि का यहाँ कोई स्थान नहीं है और इनसे एकदम पल्ला छुड़ा लेना चाहिये।

यह आदर्श है, लेकिन जहाँ तक उपलब्धि के तरीके का सवाल है, उसे विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न मार्गों से पाया जा सकता है। एक मार्ग वह है जिसमें व्यक्ति सब कुछ छोड़ कर केवल भगवान् के पीछे-पीछे चलता है। इसका यह मतलब नहीं है कि वह अन्य व्यक्तियों, जगत् और जीवन के प्रति जुगुप्सा से भर उठे। इसका बस यही अर्थ है कि वह अपने केन्द्रीय

लक्ष्य में इस विचार के साथ तल्लीन रहे कि एक बार उसे प्राप्त कर लेने पर जगत् के सभी सम्बन्धों को सच्चे आधार पर बिठाना सरल हो जायेगा, तब व्यक्ति दूसरों के साथ सचमुच एक हो सकेगा, उनके हृदय, भाव और जीवन के साथ सामञ्जस्य बिठला कर आध्यात्मिक सत्य तथा भगवान् के साथ जुड़ जायेगा। दूसरा मार्ग है कि व्यक्ति साधना-पथ पर जहाँ तक बढ़ चला है वहीं से और आगे बढ़े, भगवान् को बीच में बिठा कर, बाक़ी चीज़ों को उनके इर्द-गिर्द रखे, यानी, बाक़ी चीज़ों से नाता न तोड़ ले बल्कि धीरे-धीरे, क्रमशः उनका रूपान्तरण करते हुए सबको साथ-साथ लेकर चले। वे सभी चीज़ें जो इस सम्बन्ध के लिए अवाञ्छनीय हैं, जैसे—अपवित्रता, द्वेष, क्रोध, स्वार्थी माँग इत्यादि—अपने-आप वैसे-वैसे झड़ती चली जायेंगी जैसे-जैसे आन्तरिक सत्ता पवित्र से पवित्रतर होती जायेगी और तब एक अन्तरात्मा दूसरी के साथ समस्वर हो जायेगी और सभी दिव्य तागे में पिर कर प्रभु के गले की लड़ी बन जायेंगे।

CWSA खण्ड ३१, पृ. २८८-८९

दो सम्भावनाएँ हैं, एक है, व्यक्तिगत प्रयास के द्वारा आत्म-शुद्धीकरण, जिसमें बहुत समय लगता है, दूसरी है, 'भागवत कृपा' का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप जो सामान्यतः तेज़ी से क्रिया करती है। दूसरी सम्भावना के लिए पूर्ण समर्पण आवश्यक है, और इसके लिए भी एक ऐसे मन का होना ज़रूरी है जो शान्त रह सके और 'भागवत शक्ति' को क्रिया करने दे, यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति हर क्रदम पर उसी 'शक्ति' से चिपका रहे, और वह न कर सके तो बस शान्त और अचञ्चल रह कर उसे ग्रहण करे, लेकिन इस प्रवृत्ति को अपनाना मुश्किल होता है। जो लोग अपने सभी क्रिया-कलापों की सतत सक्रियता में बने रहते हैं उनके लिए मन को नीरव बनाना और मानसिक रूप से आत्मदान करने में बड़ी कठिनाई होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे योग-साधना नहीं कर सकते या आत्मदान करने में सक्षम नहीं होते—बस उनके लिए आत्म-शुद्धीकरण और आत्मदान में अधिक समय लगता है। व्यक्ति के अन्दर अन्त तक जाने के लिए धीरज तथा अटल अध्यवसाय और दृढ़ निश्चय होना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. ८३

—श्रीअरविन्द

पूर्णयोग तथा दिव्य जीवन

मैंने इसे पूर्णयोग नाम दिया है, इसका यह अर्थ है कि यह पुराने योगों का सारतत्त्व तथा उनकी कई प्रक्रियाओं का भी समावेश करता है—लेकिन इसकी नूतनता है इसके लक्ष्य, इसके दृष्टिकोण तथा इसकी प्रक्रिया की समग्रता में।...

पुरातन योगों की तुलना में यह नूतन है :

१. क्योंकि इसका लक्ष्य इस धरती को छोड़ कर कहीं स्वर्ग या निर्वाण की ओर प्रस्थान करना नहीं है, बल्कि यहाँ धरती के जीवन और अस्तित्व को बदलना है, वह भी कोई गौण या प्रासंगिक बदलाव नहीं, बल्कि हमारे योग का स्पष्ट तथा केन्द्रीय लक्ष्य है। दूसरे योगों में अगर अवतरण हुआ भी है, फिर भी वह आरोहण, अर्थात् ऊपर चढ़ने के मार्ग में एक घटना के रूप में ही हुआ है—वहाँ आरोहण ही वास्तविक चीज़ है। हमारे योग में आरोहण पहला चरण है, लेकिन है यह अवतरण के लिए एक साधन ही। यहाँ नयी चेतना का धरती पर अवतरण ही—जिसे आरोहण द्वारा पाया जाता है—हमारी साधना की छाप तथा मोहर है। यहाँ तक कि तन्त्र और वैष्णववाद भी जीवन से मुक्ति को ही अन्तिम चरण मानते हैं; यहाँ, हमारा लक्ष्य है—जीवन में भागवत उपलब्धि प्राप्त करना।

२. क्योंकि यहाँ जिस लक्ष्य का अनुसरण किया जाता है वह केवल मनुष्य के लिए भागवत सिद्धि की व्यक्तिगत उपलब्धि नहीं है, बल्कि स्वयं यहाँ, पृथ्वी की चेतना के लिए किसी लाभप्रद वस्तु को उतार लाना है, वह उपलब्धि विश्व में हो, विश्व के परे जाकर कोई परावैश्व सिद्धि न हो। इसके साथ-साथ यहाँ 'चेतना' की एक 'शक्ति' (अतिमानसिक) को उतार लाना है जो पार्थिव प्रकृति में, यहाँ तक कि आध्यात्मिक जीवन में भी अभी तक प्रत्यक्ष रूप में व्यवस्थित या सक्रिय नहीं हुई है, लेकिन जिसे व्यवस्थित करना और प्रत्यक्षतः सक्रिय बनाना ही है।

३. क्योंकि इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए एक ऐसे तरीके की घोषणा की जा चुकी है जो हमारे सम्मुख रखे लक्ष्य की तरह परिपूर्ण और सर्वांगीण है; अर्थात्—चेतना और प्रकृति का पूर्ण तथा आद्योपान्त परिवर्तन, जिसमें पुराने तरीकों का भी उपयोग बस इसलिए किया जाये कि

जिससे वर्तमान को सँवारने में मदद मिले। मैंने ऐसी पद्धति (अपने पूर्ण रूप में) या इस तरह की किसी भी पद्धति की घोषणा या चरितार्थता की बात किन्हीं भी पुराने योगों में नहीं सुनी। अगर मैंने सुनी होती तो मुझे नया पथ गढ़ने और अपनी तीस साल की खोज और आन्तरिक रचना में अपना समय नहीं गँवाना चाहिये था; तब तो मुझे बने-बनाये, सुनिर्धारित, अच्छी तरह से मानचित्रित, पुष्टा, सुरक्षित तथा सार्वजनिक पथों पर सरपट दौड़ लगा देनी चाहिये थी। हमारे योग का लक्ष्य पुरानी सड़कों पर चलना नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक अभियान है।

CWSA खण्ड २९, पृ. ३९९-४०१

दिव्य जीवन

पाशविक और अहंकारयुक्त चेतना में दिव्य सत्ता को जानना, उसे पाना और वही हो जाना, अपनी झुटपुटी, अस्पष्ट भौतिक मानसिकता को पूर्ण अतिमानसिक प्रकाश में बदलना, जहाँ केवल शारीरिक पीड़ा और भावनामय कष्ट से घिरे अस्थायी सन्तोष का दबाव है वहाँ शान्ति और स्वयम्भू आनन्द का निर्माण करना, जो संसार अपने-आपको यान्त्रिक आवश्यकताओं के झुण्ड के रूप में प्रकट करता है वहाँ अनन्त स्वाधीनता को प्रतिष्ठित करना, मृत्यु और सतत परिवर्तन के अधीनस्थ शरीर में अमर जीवन प्राप्त करना—ये हैं वे चीज़ें जो भौतिक में भगवान् की अभिव्यक्ति और प्रकृति के पार्थिव क्रम-विकास के लक्ष्य के रूप में हमारे आगे प्रस्तुत की जा रही हैं।

CWSA खण्ड २९, पृ. ४

दिव्य जीवन की ओर आरोहण ही मानव यात्रा है, कर्मों का 'कर्म' और स्वीकार्य 'यज्ञ' है। जगत् में मनुष्य का यही सच्चा कार्य है, यही उसके जीवन का औचित्य है, इसके बिना वह बस एक रेंगता हुआ कीड़ा रह जायेगा जो भौतिक विश्व की भयानक विशालताओं के बीच सतही पानी और कीचड़ के संयोग से किसी तरह बने एक छोटे-से कण पर अन्य स्वल्पायु कीटों के बीच रेंगता रहेगा।

CWSA खण्ड २९, पृ. ४८

—श्रीअरविन्द

परिशिष्ट :

निर्वाण अथवा उच्चतर क्रमविकास ?

आध्यात्मिक मनुष्य के विकास में अगर प्रकृति का एकमात्र अभिप्राय हो उसे परम सद्बस्तु की ओर जगाना और उसे अपने से या उस अज्ञान से मुक्त करना जिसमें उसने शाश्वत की शक्ति के रूप में रहते हुए अपने-आपको आच्छादित कर रखा है, इसमें से कहीं अन्यत्र सत्ता की किसी उच्चतर अवस्था में गमन द्वारा यह मुक्ति मिल सकती है, अगर यह चरण विकास में इति और निर्गम-द्वार है तब तो सारतः उसका काम पूरा हो चुका है और अब करने के लिए कुछ बाक़ी नहीं रहा। रास्ते बन चुके हैं, उनका अनुसरण करने की क्षमता विकसित हो चुकी है, लक्ष्य या सृष्टि का अन्तिम शिखर अभिव्यक्त है। अब जो कुछ बाक़ी है वह इतना ही कि हर आत्मा व्यक्तिगत रूप से उचित अवस्था और अपने विकास के मोड़ तक जा पहुँचे, आध्यात्मिक पथों में प्रवेश करे और अपने चुने हुए मार्ग से इस निम्नतर जीवन में से निकल जाये।

लेकिन हमने माना है कि एक और आगे का अभिप्राय भी है—केवल अध्यात्म-पुरुष का अन्तःप्रकाश ही नहीं बल्कि प्रकृति का आमूल और सम्पूर्ण रूपान्तर। प्रकृति के अन्दर यह इच्छा है कि वह अध्यात्म-पुरुष के सशरीर जीवन की एक सच्ची अभिव्यक्ति को चरितार्थ करे, उसने जो शुरू किया है उसे अज्ञान से ज्ञान की ओर जाकर पूरा करे, अपने मुखौटे को उतार फेंके और अपने-आपको ऐसी प्रकाशमान् 'चित्-शक्ति' के रूप में प्रकट करे जो अपने अन्दर शाश्वत सत्ता और उसकी सत्ता के 'वैश्व आनन्द' को वहन कर रही है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ है जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। दृष्टि के सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है—भूरि अस्पष्ट कर्तव्यम्—एक ऐसा शिखर है जिस पर अभी पहुँचना है, एक विस्तार है जिसे अन्तर्दृष्टि से, इच्छा के पँखों से, भौतिक विश्व में अध्यात्म-पुरुष के आत्म-प्रतिष्ठापन द्वारा अब तक ग्रहण करना बाक़ी है।

'दिव्य जीवन', पृ. ८७५-७६

—श्रीअरविन्द

‘पुरोधा’ :

एक प्रार्थना

(मार्च १९०८ में श्रीअरविन्द की ‘एक प्रार्थना’ नामक कविता ‘वन्दे मातरम्’ में छपी थी। यहाँ उसका भावानुवाद दिया जा रहा है। आज भी यह प्रार्थना उतनी ही सटीक है जितनी ११८ वर्ष पहले थी। —सं.)

हे भगवान्, विश्व पर राज्य करने वाला राजा, और प्रभु, जो स्वर्ग में अपने सिंहासन पर आसीन है और मनुष्य की ओर देख रहा है, हे अपरिमेय आत्मा, तेरे चरणों में झुकने के बाद भी यदि मानव दुर्बलता का कोई विचार मेरे मन में आता है तो मुझे क्षमा कर। मैं अपने लिए नहीं, उस देश के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ जहाँ एक समय तू महान् योद्धा, राजा और प्रभु के रूप में रहा था।

मैं भारत के लिए, उसकी सन्तान के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ जो इस समय पतित है, वे विदेशी के आगे नाक रगड़ते हुए तुझे भूल गये हैं। हे अपरिमेय प्रभु, हे अज, वैभवशाली प्रभु, तू अपनी अवर्णनीय अनुकम्पा के कारण मानव शरीर में जन्म लेता है। तेरा ज़रा-सा अंश भीतरी और बाहरी शत्रुओं से रक्षा करने के लिए धरती पर आता है। फिर से देश में तू ही तू भरा हुआ है, वातावरण में हलचल मची है, मनुष्यों के हृदय से पुकारें उठ रही हैं। सारी धरती रोमाञ्चित हो उठी है। अस्पष्ट जनश्रुतियाँ, बड़े-बड़े पूर्व-बोध, कुहरे और स्वप्न में से उत्पन्न अन्तर्दर्शनों की तरह उस भूमि में चक्कर लगा रहे हैं जहाँ एक बार तूने अवतार लिया था। वे तेरे आने की भविष्यवाणी कर रहे हैं।

हे प्रभु, क्या तुम एक ऐसे रूप में आओगे जैसे कंस के मरण और मथुरा की मुक्ति के समय आये थे, जब उस समय तक छिपी हुई तलवार वृन्दावन से आयी थी। नाथ, हम तुझे उसी रूप में देखना चाहेंगे।

धरती के देश पाप से भरे हैं, लोभ, काम, महत्त्वाकांक्षा उनके देवता बने हुए हैं और विज्ञान के साथ आमोद-प्रमोद कर रहे हैं ताकि वह उन्हें जीवन-धारण करने के लिए भोजन प्रदान करे। दया, कोमलता और प्रेम के सभी रूप खो गये हैं और केवल बल की पूजा हो रही है, लेकिन बल भी

कैसा, जिसका न्याय से गठबन्धन कट चुका है, जो उदात्त लक्ष्यों से प्रेरणा नहीं लेता। धरती की महिमा अपने उत्स को भूल गयी है, अपनी सीमाओं को भूल गयी है। ये लोग अपनी कामनाओं को पूरा करने के लिए, अपने शानदार राज्य को बनाये रखने के लिए ही तोड़ना और बनाना चाहते हैं। वे भूल गये हैं कि बल किस उद्देश्य से दिया गया था। धरती-अन्तरिक्ष को अत्याचार ने भर दिया है, घृणा और दुःख-कष्ट हत्या से उत्तर देते हैं।

आज एक ऐसे की ज़रूरत है जो अपनी दिव्य शक्ति से धरती की इन शक्तियों को तोड़ दे। जब तक वह न आ जाये हम व्यर्थ में संघर्ष करते हैं और व्यर्थ में अभीप्सा करते हैं। आ जा प्रभु, तूने कहा था, जब कभी शुभ की हत्या करने के लिए प्रबल अन्याय सिर उठायेगा तब-तब तू संसार की रक्षा करने के लिए अवतरित होगा, आज यह भूखण्ड तेरे आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। उसने इसी तरह तब प्रतीक्षा की थी जब रावण संसार का स्वामी था और वैभवपूर्ण, पाप से भरी लंका मनुष्यजाति पर अधिकार किये हुए थी। आज रावण एक नहीं है, लंका एक नहीं है, अनेक रावण हैं, अनेक लंकाएँ हैं। इसलिए आ जा। धरती अब इनके गर्व का भार नहीं सह सकती, वह रसातल की ओर धँसती जा रही है। तू नहीं आया तो बस अन्त होने-होने को है। प्रभु आ जा, अपनी सुन्दर सृष्टि को बचा ले। ('सेंटनरी वॉल्यूम' १ से)

—श्रीअरविन्द

दैनन्दिनी

मार्च

१. आन्तरिक प्रगति और आध्यात्मिक अभीप्सा व्यक्ति को अपने कर्म का स्वामी बनाने में समर्थ बनाती हैं।
२. हमारे अन्दर एक विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति है जिसे कम या अधिक बोध प्राप्त है और जो हमारे चैत्य पुरुष का प्रथम यन्त्र है। इसी युक्तिपूर्ण संकल्प-शक्ति का हमें उपयोग करके यह सीखना चाहिये कि एक पशु-मानव की तरह नहीं, वरन् सच्चे मनुष्य की तरह, देवत्व के उम्मीदवार की तरह कैसे जीना चाहिये।
३. सच्चाई से काम में लग जाओ, देर-सबेर बाधाएँ दूर हो जायेंगी।
४. बच्चे में कठिनाइयों पर विजय पाने की चाह जगानी चाहिये और यह

भी कि यह विजय जीवन को विशेष मूल्य देती है; जब व्यक्ति ऐसा करना जान ले तो वह सदा के लिए अवसाद का नाश कर देता है और जीवन में नयी रुचि पैदा कर देता है।

५. मेरे लिए सुसंस्कृत रुचि का अर्थ है, सरल और सच्चा होना।
६. बच्चों को यह सिखाना चाहिये कि वे जो कुछ करें अच्छी तरह करने के आनन्द से करें, चाहे वह बौद्धिक काम हो या कलात्मक या शारीरिक, और विशेषकर यह सिखाना चाहिये कि काम कैसा भी क्यों न हो, यदि उसे यत्न और कुशलता से किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।
७. सच्ची मनोवृत्ति यह होनी चाहिये कि जीवन सतत अध्ययन का क्षेत्र है जहाँ सीखना यह सोच कर कभी बन्द नहीं करना चाहिये कि हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब हम जानते हैं। हम सदा अधिक सीख सकते हैं और ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं।
८. यदि तुम सचमुच शान्ति और आनन्द चाहते हो तो तुम्हारी सतत लगन होनी चाहिये :
“मुझे ऐसी कौन-सी प्रगति करनी चाहिये ताकि मैं भगवान् को जान सकूँ, उनकी सेवा कर सकूँ?”
९. अहंकार नाराज़ और बेचैन हो उठता है और यही अहंकार तुम्हारी चेतना को धुँधला बनाता और तुम्हारी प्रगति में बाधा डालता है।
१०. अगर चेतना की वृद्धि को जीवन का मुख्य लक्ष्य बनाया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयाँ समाधान पा जायेंगी।
बुढ़ापे को रोकने का सबसे अच्छा तरीका है, प्रगति को जीवन का लक्ष्य बनाना।
११. परम प्रभो, हमें नीरव रहना सिखा ताकि मौन में हम तेरी शक्ति को ग्रहण कर पायें और तेरी इच्छा को समझ सकें।
१२. हमारी सत्ता की गहराइयों में, मन के मौन में, एक ज्योतिर्मयी शक्ति विशाल और ज्योतिर्मयी शान्ति से हमारी चेतना को परिप्लावित कर देती है जो क्षुद्र प्रतिक्रियाओं को जीत कर हमें भगवान् के साथ ऐक्य के लिए तैयार करती है—व्यक्तिगत अस्तित्व का यही एकमात्र उद्देश्य है।

१३. मार्ग पर मनुष्य जो पहली बात सीखता है वह यह है कि देने का आनन्द लेने के आनन्द से बहुत अधिक है।
१४. हमेशा अपनी पूर्णतम और सत्यतम पूर्णता को चरितार्थ करने की अभीप्सा में रहो।
और आरम्भ के लिए स्वयं अपने ऊपर लगाये गये नियन्त्रण में ईमानदार, सच्चे, सीधे-सादे, उदात्त और पवित्र होने की चेष्टा करो। मैं हमेशा सहायता करने और राह दिखाने के लिए तुम्हारे साथ रहूँगी।
१५. सारी शरारत सन्तुलन के अभाव से आती है।
अतः हम सर्वदा, सभी परिस्थितियों में अपना सन्तुलन बनाये रखें। धन की हानि कम महत्त्व रखती है परन्तु सन्तुलन की हानि बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ है।
१६. प्रसन्न रहो मेरे बत्स, प्रगति का यह सबसे अधिक निश्चित मार्ग है।
१७. हमेशा अच्छे बने रहो तो तुम हमेशा खुश रहोगे।
हम हमेशा उचित वस्तु करें तो हमेशा शान्त और सुखी रहेंगे।
हम अपनी खुशी केवल भगवान् में ही खोजें।
१८. सत्य का प्रकाश जगत् के ऊपर मँडरा रहा है ताकि उसमें व्याप्त होकर भविष्य को गढ़े।
सत्य को अपनी शक्ति मानो, सत्य को अपना आश्रय मानो।
सत्य हमारे अन्दर है, हमें केवल उसके बारे में अवगत होना है।
१९. सत्य मिथ्यात्व से कहीं अधिक बलवान् है। एक अमर शक्ति जगत् का शासन करती है। उसके निश्चय हमेशा सफल होते हैं। उसके साथ हो जाओ तो तुम अन्तिम विजय के बारे में निश्चित रहोगे। जब मनुष्य मिथ्यात्व से ऊब जायेंगे, जिसमें वे निवास करते हैं, तब संसार सत्य के राज्य के लिए तैयार होगा।
२०. सभी रायों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। वस्तुतः क्रोध किये बिना औरों की राय सुनना एक बड़ी और उपयोगी चीज़ है।
२१. ईमानदारी सबसे अच्छी सुरक्षा है।
सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।
हमेशा सच बोलना आभिजत्य का सबसे ऊँचा पद है।
२२. ... अपने अन्दर भागवत उपस्थिति का बोध होना—यह सब चीज़ों

से कहीं अधिक शक्तिशाली है।

बस, एकमात्र यही चीज़ है जो तुम्हें भय से विमुक्त कर सकती है।

२३. यदि तुम सदा इस विचार और भाव में निवास करो कि तुम्हारा रूपान्तर होने वाला है तो इससे तुम योग की प्रक्रिया में सहायक होगे। इसके विपरीत, यदि तुम उदास हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धि को प्राप्त करने में असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ता को विष से भरते हो।
२४. धरती पर जीवन प्रगति के क्षेत्र के रूप में बनाया गया है और यदि हम अधिक-से-अधिक प्रगति करें तो धरती के जीवन से अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकेंगे। और तब तुम प्रसन्न होते हो।
२५. जब आदमी जो कर सकता है उसे अच्छे-से-अच्छा करे तो वह प्रसन्न होता है।
२६. सच्चाई संसार की सभी इच्छाओं से अनन्तगुना अधिक बलशाली शक्ति है। वह चाहे किसी भी चीज़ को पल-भर में बदल सकती है...।
२७. वास्तव में सबसे पहली मानव सत्ता जिसके साथ तुम्हारा सम्बन्ध है, तुम स्वयं हो। तुम दुःख कम करना चाहते हो, लेकिन जब तक तुम दुःख सहने की क्षमता को प्रसन्न रहने की निश्चितता में न बदल दो तब तक संसार कभी न बदलेगा।
२८. मनुष्य को दिखावा नहीं करना चाहिये, उसे होना चाहिये; मनुष्य को पूर्ण, सच्चा होना चाहिये और अपनी कामनाओं को सुन्दर सिद्धान्तों के द्वारा ढकना नहीं चाहिये।
२९. अगर तुम चाहते हो कि तुम्हें आदर मिले तो तुम्हें आदरणीय होना चाहिये।
३०. एक दिन आता है जब हमारे अन्दर और चारों ओर सारे व्यवधान ढह जाते हैं और हम पक्षी की तरह निर्विरोध उड़ान के लिए पर तोल सकते हैं।
३१. सभी चीज़ों के पीछे एक भागवत सौन्दर्य, एक भागवत सामञ्जस्य है। हमें इसके सम्पर्क में आना चाहिये, हमें इसी को अभिव्यक्त करना चाहिये।

श्रीअरविन्द का पूर्णयोग

[गतांक (जनवरी) से आगे]

ये हुई श्रीअरविन्द के योग की कुछ तात्त्विक बातें। अब यह देखना है कि आर्य ऋषियों के द्वारा जो कुछ हमने पैतृक सम्पत्ति के रूप में पाया है उसका इसमें कैसे समावेश हुआ है।

इसमें हठयोग का सार हम इतने विस्तृत रूप में पाते हैं कि शायद वहाँ तक हठयोगियों की कभी कल्पना भी नहीं पहुँची हो। शरीर और प्राण पर अधिकार प्राप्त कर, उनके द्वारा भगवान् का स्पर्श प्राप्त करना ही हठयोगियों का उद्देश्य है। उन्होंने अभी तक जो सिद्धियाँ प्राप्त की हैं उनका यही परिणाम हुआ है कि वे अपने जीवन को एक काल तक परिवर्धित कर सके हैं, पर इस योग में हठयोग के मुख्य अंग शरीर में भी, जो कि अचेतन है, भागवत चैतन्य को अवतरित कर इसे इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया जाता है कि वह जरा-व्याधि और मृत्युभय से मुक्त हो जाये। मन-बुद्धि को दिव्य बनाना बहुत ही सहज है पर पत्थर के समान इस जड़ शरीर को भगवान् का बनाना और उसमें भगवान् के दिव्य चैतन्य को उतार कर नित्य रूप से निवास कराना कोई सहज बात नहीं है। विशेषता यह है कि पूर्णयोग के साधक को हठयोगी की भाँति एक अत्यन्त कष्टकारी साधना में उतरना नहीं पड़ता, न उसे विभिन्न आसनों को सिद्ध करने की आवश्यकता ही होती है। उसे तो केवल अन्तरात्मा की अभीप्सा के साथ शरीर का संयोग कर देना पड़ता है और इस प्रकार शरीर भी अपने जड़ स्वभाव को छोड़ कर क्रमशः शुद्ध और उपयुक्त आधार बन जाता है।

राजयोगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा मन को शान्त करके ऊपर उठता है और समाधि-अवस्था में वह वह शान्ति प्राप्त करता है जो उसे मुक्ति तक पहुँचाती है। ऐसे सिद्ध योगियों में भी प्रायः यह देखा जाता है कि जब उनके अन्दर काम, क्रोध आदि विकार उठते हैं तब वे अपनी शान्ति खो बैठते हैं। राजयोगी नैतिकता पर बहुत जोर देते हैं, परन्तु पूर्णयोग के साधक उसमें उतना समय व्यय नहीं करते। इनकी प्रत्येक चेष्टा अपने अन्दर आध्यात्मिकता का विकास करने के लिए होती है। इनके सारे कर्मों का आरम्भ ही होता

है आध्यात्मिकता से और आध्यात्मिकता के विकास के साथ-साथ नैतिकता स्वाभाविक रूप में अपने-आप आ जाती है। जो आध्यात्मिकता को प्राप्त कर चुका है वह कभी दुःशील नहीं हो सकता। परन्तु आध्यात्मिकता नैतिकता के ऊपर निर्भर नहीं करती। मन की शान्ति, चित्त की स्थिरता, प्राण की एकाग्रता, हृदय की तन्मयता और शरीर के समस्त विकारों से निष्कृति ही पूर्णयोग की आधारभूमि है। ऐसा शान्तिमय निश्चल आधार ही इस योग के पूर्ण स्थायित्व के लिए आवश्यक माना गया है। यह शान्ति मन के भावों, भावनाओं, वासनाओं, चिन्ताओं और विचारों को कुचल कर नहीं प्राप्त की जाती, बल्कि साधना द्वारा क्रमशः ऐसी स्थिति स्वतः आ जाती है कि यह शान्ति साधक के स्वभाव का एक अंग बन जाती है। और ऐसे शुद्ध, शान्त, निश्चल और नीरव आधार पर ही ऊपर से भागवत आनन्द, प्रेम, ज्ञान का उतरना सहज हो सकता है और ये स्थायी रूप से टिक सकते हैं। इस प्रकार राजयोग का हम इसमें सुन्दर समावेश पाते हैं।

अब कर्मयोग को लीजिये। श्रीअरविन्द और किसी चीज़ पर इतना जोर नहीं देते जितना कर्मयोग पर। वे कहते हैं कि यह संसार भगवान् का लीलाक्षेत्र है। वे इसके अणु-अणु में विराज रहे हैं तथा उनकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। कर्मयोग पर वे इतना जोर देते हैं कि यदि हम कहें कि कर्मक्षेत्र से भाग कर कोई इस योग का योगी नहीं बन सकता तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी। श्रीअरविन्द का उद्देश्य जगत्याग, जीवनत्याग तथा कर्मत्याग नहीं है, बल्कि संसार में, मनुष्यजाति में, जीवन में, कर्म में भगवान् को मूर्तिमान् करना है। वासना और अहंकार ये दो ही अज्ञान की ज़बरदस्त ग्रन्थियाँ हैं। वासना से मुक्त होकर, फलासक्ति से रहित होकर, अहंभाव से सर्वथा शून्य होकर, भगवान् का कार्य, भगवान् के हाथ का यन्त्र बन कर, एकमात्र भगवान् के लिए ही करना पूर्णयोग में कर्मयोग है। देशहित, जातिहित, लोकहित के कर्म ही आजकल निष्काम कर्म माने जाते हैं। पर जिसमें अहं और वासना से छूटने के लिए प्रयत्न न हो वह गीताकथित कर्मयोग नहीं कहा जा सकता। जो कर्म अहं से छूटने के लिए तथा एकमात्र भगवान् के लिए न किये गये हों वे न तो यज्ञरूप माने जा सकते हैं न ऐसे कर्म हमारी शुद्धि ही कर सकते हैं। यदि कोई ठीक-ठीक भाव रख कर केवल निष्काम कर्म ही करता चला जाये तो

कर्मयोग द्वारा ही वह आत्मचैतन्य को प्राप्त कर सकता है।

भक्ति ही भगवान् को विवश कर सकती है। भक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि वह भगवान् को निकट-से-निकट खींच लाये। कहा है (Knowledge obeys, Bhakti compels) अर्थात् ज्ञान आज्ञापालन करता है, भक्ति बाध्य करती है। पूर्णयोग का साधक जीवन का प्रत्येक कार्य प्रसन्नतापूर्वक भगवान् का चिन्तन करता हुआ, भगवान् के लिए करता है। वह एक मुहूर्त के लिए भी भगवान् की स्मृति को अपने से दूर नहीं होने देता। इस प्रकार वह सारे समय सब कुछ करता हुआ एकमात्र भगवान् की ही पूजा में सदैव रत रहता है। उसके लिए भगवान् के सिवाय और कोई वस्तु अपनी नहीं रह जाती। उसका संसार में रहना भी केवल भगवान् के लिए होता है। वह अपनी साधना को भी इस प्रकार वासना की बू से ख़ाली कर देता है कि उसकी साधना का ध्येय अपने लिए निर्वाण या मुक्ति अथवा महान् शक्ति प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि अपने जीवन में एकमात्र भगवान् की इच्छा की पूर्ति होता है। उसका हृदय भगवान् से इतना भरा रहता है कि वह सदा-सर्वदा केवल उनका स्पर्श ही नहीं प्राप्त करता बल्कि उसका व्यक्तित्व भी भगवान् में लीन हो जाता है, उसकी जगह केवल भगवान् ही रह जाते हैं और उसके जीवन में वे ही सब कुछ उसे अपना यन्त्र बना कर करते हैं। साधक सर्वदा उनके साथ अविच्छिन्न एकता का अनुभव करता है जो वैष्णवों के श्रेष्ठ लक्ष्य के भी परे की वस्तु है। इस तरह इस पूर्णयोग में भक्तियोग भी पूर्ण रूप से ओतप्रोत है।

(क्रमशः)

—स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

परमात्मा और किसान

एक बार एक किसान परमात्मा से बड़ा नाराज़ हो गया। कभी बाढ़ आ जाये, कभी सूखा पड़ जाये, कभी धूप बहुत तेज़ हो जाये तो कभी ओले पड़ जायें! हर बार कुछ-न-कुछ कारण से उसकी फसल थोड़ी ख़राब हो जाये।

एक दिन तंग आकर उसने परमात्मा से कहा—‘देखिये प्रभु, आप परमात्मा हैं, लेकिन लगता है आपको खेती-बाड़ी की ज़्यादा जानकारी नहीं है, एक प्रार्थना है कि एक साल मुझे मौका दीजिये, जैसा मैं चाहूँ वैसा मौसम हो, फिर आप देखना मैं कैसे अन्न के भण्डार भर दूँगा।’

परमात्मा मुस्कुराये और बोले—‘ठीक है, जैसा तुम कहोगे वैसा ही मौसम दूँगा, मैं दखल नहीं करूँगा।’ किसान ने गोहूँ की फसल बोई, जब धूप चाही, तब धूप मिली, जब पानी तब पानी। तेज़ धूप, ओले, बाढ़, आँधी तो उसने आने ही नहीं दी। समय के साथ फसल बढ़ी और किसान की खुशी भी, क्योंकि ऐसी फसल तो आज तक नहीं हुई थी।

किसान ने मन ही मन कहा—‘अब पता चलेगा परमात्मा को कि फसल कैसे उगाई जाती है, बेकार ही इतने बरस हम किसानों को परेशान करते रहे।’

फसल काटने का समय भी आया, किसान बड़े गर्व से फसल काटने गया, लेकिन जैसे ही फसल काटने लगा, एकदम से छाती पर हाथ रख कर बैठ गया। गोहूँ की एक भी बाली के अन्दर गोहूँ नहीं था, सारी बालियाँ अन्दर से खाली थीं, बहुत दुःखी होकर उसने परमात्मा से कहा—‘प्रभु यह क्या हुआ?’

तब परमात्मा बोले—‘यह होना ही था, तुमने पौधों को संघर्ष का ज़रा-सा भी मौका नहीं दिया, न तेज़ धूप में उनको तपने दिया, न आँधी-ओलों से जूझने दिया, उनको किसी प्रकार की चुनौती का एहसास ज़रा भी नहीं होने दिया, इसीलिए सब पौधे खोखले रह गये, जब आँधी आती है, तेज़ बारिश होती है, ओले गिरते हैं तब पौधा अपने बल से ही खड़ा रहता है, वह अपना अस्तित्व बचाने का संघर्ष करता है और इस संघर्ष से जो बल पैदा होता है वही उसे शक्ति देता है, ऊर्जा देता है, उसकी जीवटता को उभारता है। सोने को भी कुन्दन बनने के लिए आग में तपने, हथौड़ी से पिटने, गलने जैसी चुनौतियों से गुज़रना पड़ता है। तभी उसकी स्वर्णिम आभा उभरती है, उसे अनमोल बनाती है। उसी तरह ज़िन्दगी में भी अगर संघर्ष न हो, चुनौती न हो तो आदमी खोखला ही रह जाता है, उसके अन्दर कोई गुण नहीं आ पाता। ये चुनौतियाँ ही हैं जो आदमीरूपी तलवार को धार देती हैं, उसे सशक्त और प्रखर बनाती हैं, अगर प्रतिभाशाली बनना है तो चुनौतियाँ तो स्वीकार करनी ही पड़ेंगी। अन्यथा हम खोखले ही रह जायेंगे।’

अगर ज़िन्दगी में प्रखर बनना है, प्रतिभाशाली बनना है, तो संघर्ष और चुनौतियों का सामना तो करना ही पड़ेगा।

—‘शिशु मन्दिर’ से साभार

जकड़ लिया हमेशा के लिए

किसी गाँव में पन्ना नामक एक जाट रहता था। खेती-बाड़ी उसका धन्धा था, साथ ही धरम-करम के कामों में भी उसकी अपार श्रद्धा, गहरी भक्ति थी। खेती-बाड़ी के काम को भी उसी तरह मन लगा कर करता मानों पूजा-पाठ का काम कर रहा हो। इसी कारण पन्ना जाट था प्रसन्न, सन्तुष्ट, कर्मठ और सबसे बढ़ कर भक्त। दिन-भर की कड़ी मेहनत के बाद वह अपनी शामें भजन-कीर्तन या प्रवचन में बिताता। संक्षेप में, वह सत्संगी जीवन को उसके सच्चे अर्थ में जी रहा था।

एक बार गाँव में एक पण्डितजी आये। सवेरे से पन्ना का हृदय उनका प्रवचन सुनने के लिए हर्ष से हुलस रहा था। अपने खेत में बुवाई का काम पूरा कर वह शाम को नहा-धोकर गाँव के चौक में आ गया। सारा गाँव नये पण्डितजी का प्रवचन सुनने के लिए उमड़ आया था। पण्डितजी ने अपने झोले से भगवान् की एक मूर्ति निकाली, उसे सामने रख कर पहले पूजा-पाठ किया फिर प्रवचन करना जो शुरू किया तो सवेरा हो गया। गाँववालों ने कभी ऐसा प्रवचन न सुना था, पन्ना तो अपनी सुध-बुध खो बैठा। पत्थर की उस मूर्ति को अपलक निहारते-निहारते वह उसके लिए सजीव हो उठी थी। प्रवचन के बाद जब पण्डितजी मूर्ति अपने झोले में डालने लगे तो पन्ना उनके पैरों पर गिर पड़ा—“महाराज! यह मूर्ति कृपया मुझे दे दें, इसके बदले में आप मेरी सारी खेती-बाड़ी, जमा-पूँजी, सब कुछ ले लें। मैं आजीवन आपका दास बन जाऊँगा।” पन्ना के आँसू थमने का नाम न लेते थे। सभी ग्रामवासियों के साथ-साथ पण्डितजी भी किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े-के-खड़े रह गये। सुध आयी तो बोले—“कैसी बातें करते हो भैया, मैं अपनी मूर्ति चौबीसों घण्टे अपने पास रखता हूँ, यही तो मेरी एकमात्र सम्पत्ति है, पल-भर के लिए भी मैं अपने भगवान् से अपने-आपको अलग नहीं कर सकता।”

पण्डितजी ने कई तरह से पन्ना को समझाया, लेकिन उसे तो मूर्ति के मोहपाश ने चारों तरफ़ से जकड़ लिया था, किसी भी भाँति वह अपने आग्रह से टस-से-मस न हुआ। और कोई चारा न देख पण्डितजी ने अपने झोले से एक चिकना पत्थर निकाल कर कहा—“यह ले पन्ना, आज से

यही तेरे भगवान्, तेरी पूजा हैं, इन्हीं में अपने आराध्य का रूप निहार कर भोग लगा, इन्हें नहला-धुला, इनकी सवेरे-शाम पूजा कर। ध्यान रहे, भगवान् को भोग लगाने के बाद ही स्वयं भोजन करना।”

उस पत्थर को पाकर पन्ना निहाल हो उठा, साथ ही उसने पण्डितजी की बात गाँठ बाँध ली। गाँव के और लोग तो पन्ना के इस भोलेपन पर मन ही मन मुस्कुरा रहे थे, लेकिन वह जाट अपने-आपको दुनिया का सबसे भाग्यशाली मनुष्य मान कर, उस पत्थर को सीने से लगाये अपने घर की ओर चल पड़ा।

पन्ना अकेला था—न आगे नाथ न पीछे पगहा—घर आकर उसने अपनी कुटिया में एक ओर परदा लगाया, मूर्ति को परदे के पीछे प्रतिष्ठित कर, धूप-दीप, फूल-नैवेद्य आदि से सुशोभित कर एक छोटा-सा मन्दिर गढ़ लिया। स्वयं नहा-धोकर, भगवान् का अभिषेक इत्यादि कर भोग के लिए सामग्री रख कर बोला—“लो भगवान्, यह प्रसाद ग्रहण करो, आज से मैं सवेरे-सवेरे तुम्हें भोग लगा कर ही अन्न-जल ग्रहण करूँगा।” कुछ देर वह मूर्ति के सामने ध्यान में बैठा रहा, आँखें खोलीं, देखा प्रसाद ज्यों का त्यों पड़ा है। वह अचरज में पड़ गया। अपने प्रभु से बोला—“क्या हुआ नाथ? भोग तुमने छुआ तक नहीं, अब जल्दी खा लो, मुझे भी भूख लग रही है, फिर खेत पर काम करने भी जाना है मुझे।”

भक्त ने फिर आँखें बन्द कर लीं, मुँदी आँखों से वह अपने भगवान् को प्रसाद ग्रहण करते हुए देखता रहा, आनन्दित होता रहा, जब सपना टूटा, आँखें खुलीं और प्रसाद को अनछुआ देखा तो भक्त विलाप कर उठा—“प्रभु, क्या खोट है मेरे भोग में जो तुम इसे स्वीकारते नहीं। बोलो नाथ, कुछ तो बोलो, भूल सुधारने का अवसर तो दो मुझे...” लेकिन वह चिकना पत्थर पत्थर ही बना रहा। पन्ना के आँसुओं की झड़ी क्या उसमें नमी उतार ला सकती थी?

सारा दिन बीत गया। हठी प्रभु के सामने सेवक भी अपने हठ पर अड़ा रहा। भगवान्, भक्त, खेत, सभी भूखे-प्यासे बैठे रहे। शाम तक सारे गाँव में यह ख़बर बिजली की भाँति फैल गयी। पन्ना की कुटिया के सामने गाँव के कई पुरुष जमा हो गये, बड़े-बूढ़ों ने उसे समझाया कि भगवान् अदृश्य रूप में प्रसाद ग्रहण करते हैं, इत्यादि। यहाँ तक कि हाथ जोड़-जोड़

कर मित्रतें भी कीं, लेकिन सब व्यर्थ। आखिर हार कर सब अपने-अपने घर लौट गये। इधर पन्ना का जीवन ही बदल गया। दिन-रात कड़ी मेहनत करने वाले का जीवन-केन्द्र अब वह छोटा, काला, चिकना पत्थर बन गया था। उसी के सामने चौबीसों घण्टे हाथ जोड़े बैठा रहता, होठों पर हृदय से निकला बस एक ही वाक्य बस गया था—“प्रभो, भोग लगाओ, भोग लगाओ प्रभो!”

एक सप्ताह बीत गया। गाँववाले उसे समझा-समझा कर थक गये। उन्होंने भी आना छोड़ दिया। हफ्ते भर से पानी की एक बूँद तक न गयी थी पन्ना के हलक में, वह निढाल हो गया था और अन्त में उसने निश्चय कर लिया—“ये मेरे भगवान् मुझे अपने पास बुलाना चाहते हैं तभी तो मेरा प्रसाद स्वीकार नहीं कर रहे। मैं भी अब धरती से विदा लेकर सीधा प्रभु की शरण में पहुँच जाऊँ तब तो उन्हें प्रसाद क्या, स्वयं मुझे ही स्वीकार करना पड़ेगा।”

बस इतना सोचना था कि पन्ना खुशी से पागल हो, आत्महत्या के लिए तैयार हो गया। गँडासा उठाया, वार पड़ने ही वाला था कि किसी ने उसका हाथ थाम लिया।

देखा, सामने भगवान् हाथ जोड़े खड़े थे, नयन झर रहे थे,—“ले, तू जीता पन्ना” कह कर लड्डू उठाया, स्वयं खाया, पन्ना को खिलाया, फिर खुद खाया और बोले—“अरे पगले! अपने हठ में तूने मुझे भी खूब सताया, सप्ताह भर भूखा-प्यासा रखा, जा अब जल्दी से अभिषेक कर दे मेरा, स्वयं तैयार हो जा फिर हम दोनों मिल कर खाना पकायेंगे और साथ खायेंगे। तू मेरे पास सदा के लिए आना चाहता था, अब मैं तेरा पल्ला कभी न छोड़ूँगा, दिन-रात साये की तरह तेरे ही साथ-साथ रहूँगा।”

उस छोटी-सी कुटिया के अन्दर भगवान् कितनी बड़ी लीला रचा रहे थे इसकी कल्पना शायद कोई सच्चा भक्त ही कर सके।

अगले दिन गाँववालों ने स्वस्थ, प्रसन्न पन्ना को पहले से कहीं अधिक उत्साह के साथ अपने खेत पर काम करते देखा तो सब चौंक उठे। पृष्ठने पर सबको एक ही जवाब मिला—“अरे भाई, जब स्वयं प्रभु ही चौबीसों घण्टे मेरे साथ उठते-बैठते, हँसते-गाते-बतियाते रहते हैं तो मेरी जीवन-झोली में तो खुशियाँ ही खुशियाँ भर गयीं ना।” लोग अब उसे कुछ सनकी

समझ कर इधर-उधर हो जाते।

संयोग से कुछ समय बाद वही पण्डितजी फिर से उस गाँव में पधारे। शीघ्र ही पन्ना के सनकी होने की बात उनके कानों में भी पड़ गयी कि किस तरह वह सारे दिन किसी अदृश्य व्यक्ति के साथ बतियाता, हँसता रहता है, खाना खाते समय भी दो थालियाँ परोसता है इत्यादि। पण्डितजी को बड़ा आश्चर्य हुआ, उलटे पाँव पन्ना की कुटिया में गये, देखा, वह खेत जोत रहा है और सचमुच किसी से बातें भी करता जा रहा है। पण्डितजी को देखते ही पन्ना दौड़ कर उनके पैरों से लिपट गया, बोला—“आप सचमुच महात्मा हैं, प्रभु को चिर सखा के रूप में मेरे साथ कर दिया।”

पन्ना की बातें पण्डितजी के दिमाग के पल्ले नहीं पड़ रही थीं लेकिन हृदय मानों सब कुछ गुन रहा था। यन्त्रचालित वे पृष्ठ बैठे—“पन्ना, कहाँ हैं तुम्हारे भगवान्?” “महात्मन्, वह देखिये, मैं हल छोड़ कर आ गया, अब वे ही तो बैलों को हाँक रहे हैं, खेत जोत रहे हैं।”

पण्डितजी को खेत दिखायी दे रहा था, हल, बैल भी दीख रहे थे लेकिन पन्ना का सखा कहीं नज़र नहीं आया; लेकिन जैसे ही वे पन्ना की ओर मुड़े नहीं कि वह बाल-गोपाल उस सरल, स्वच्छ-हृदय जाट की आँखों की ज्योति में हँसता-खिलखिलाता नज़र आया।

पण्डितजी उस ग्रामीण किसान के सम्मुख श्रद्धा से दोहरे हो गये जिसने अपनी सरलता से उस परम सञ्चालक को हमेशा, हमेशा के लिए अपने आलिंगन में जकड़ लिया था।

‘पुरोधा’ सितम्बर २००८ से

—वन्दना

भगवान् के आगे एक नवजात शिशु के समान होने से बढ़कर कोई आनन्द नहीं है।

*

भगवान् का अपरिवर्तनशील ‘परम आनन्द’ चेतना में अतुलनीय तीव्रताभरी प्रगति की प्रेरक शक्ति के रूप में अनूदित होता है।

यह शक्ति अत्यन्त बाह्य सत्ता में शान्त और विश्वासपूर्ण संकल्प के रूप में बदल जाती है जिसे कोई बाधा नहीं उलट सकती।

—श्रीमाँ

Statement about ownership and other particulars about Newspaper (Agnishikha) to be published in the first issue every year after the last day of February.

Form IV (see Rule 8)

- | | |
|--|--|
| 1. Place of publication | Sri Aurobindo Ashram
Pondicherry - 605 002 |
| 2. Periodicity of its publication | Monthly |
| 3. Printer's Name | Swadhin Chatterjee |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram
Press, Pondicherry-605 002 |
| 4. Publisher's Name | Pradeep Narang |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605 002 |
| 5. Editor's Name | Vandana |
| Nationality | Indian |
| Address | Sri Aurobindo Ashram
Pondicherry - 605 002 |
| 6. Names and Addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital | Sri Aurobindo Society
Pondicherry - 605 002 |

I, Pradeep Narang hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

21 February 2018

(sd) Pradeep Narang
Signature of Publisher

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यभावी और अनिवार्य है।

— श्रीअरविन्द



अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन— 0565—3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: **1st March 2018**

Rs. 15.00 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20

RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group **vatika**

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia

Mother of Soham Sharma, Grade 2



ADMISSIONS OPEN

Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9



MatriKiran

www.matrikiran.in

Junior School

W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurgaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School

Sec 83, Vatika India Next, Gurgaon
+91 124 4681600, +91 9821786363